भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ-ग्रन्थागार

वाराणसी

कृपया—

(१) मैले हाथोंसे पुस्तकको स्पर्श न कीजिये। जिल्दपर काग़ज़ चढ़ा लीजिये।

(२) पन्ने सम्हाल कर उलटिये। थूकका प्रयोग न कीजिये।

(३) निशानीके लिये पन्ने न मोड़िये, न कोई मोटी चीज़ रखिये। काग़ज़का टुकड़ा काफ़ी है।

(४) हाशियोंपर निशान न बनाइये, न कुछ लिखिये।

(५) खुली पुस्तक उलटकर न रखिये, न दोहरी करके पढ़िये।

(६) पुस्तकको समयपर अवश्य लौटा दीजिये।

"पुस्तकें ज्ञानजननी हैं, इनकी विनय कीजिये"

अर्हम्

पण्डितशुभशीलगणिविरचितं

श्रीविक्रमचरित्रम् ।

वळावास्तव्येन सुश्रावकहर्षचन्द्रात्मजेन पंडितभगवानदासेन संशोधितं प्रकाशितं च ।

वीर सं. २४६६ प्रतयः ५०० वि. सं. १९९६

पानकोरनाकासमीपवर्तिनि श्रीशारदामुद्रणालये तदधिपतिना देवचंद्रात्मजेन सुश्रावकहीरालालेन मुद्रितम् ।

मूल्यं ५-०-०

प्रस्तावना

आ विक्रमचरित्रना कर्ता प्रसिद्ध आचार्य मुनिसुन्दरसूरिना शिष्य शुभशील गणि छे. मुनिसुन्दरसूरिनो जन्म वि. सं. १४३६मां, दीक्षा १४४३ मां, उपाध्यायपद १४६६ मां, आचार्यपद १४७८ मां अने तेमनो स्वर्गवास १५०३ मां थयो हतो. तेओ विद्वान हता. तेमने 'कृष्णसरस्वती' बिरुद मळ्युं हतुं. तेमणे अध्यात्मकल्पद्रुम, गुर्वावली अने संतिकरं स्तोत्र वगेरे ग्रन्थोनी रचना करी छे. ते मुनिसुन्दरसूरिना शिष्य शुभशील गणिए वि. सं. १४९९ मां विक्रमचरित्रनी रचना करी छे. तेना अन्ते प्रशस्तिमां लख्युं छे के–

"निधान[९]निधि[९]सिंधु[४]इन्दु[१]वत्सराद् विक्रमार्कतः । शुभशीलयतिश्चक्रे चरित्रं विक्रमोष्णगोः" ॥

एम क, ख अने ग संज्ञावाळी त्रणे प्रतिओनी प्रशस्तिमां उपर कह्या मुजब विक्रमचरित्रनो रचनाकाळ वि. सं. १४९९ जणाव्यो छे. परन्तु वीरना उपाश्रयना ज्ञान भंडारनी घ संज्ञावाळी प्रतिनी प्रशस्तिमां तेनो रचनाकाळ वि. सं. १४९० कह्यो छे. तेनो पाठ नीचे मुजब छे.

"श्रीमद्विक्रमकालाच्च खं–निधिं[९]–रत्न[१४]संज्ञके । वर्षे माघे सिते पक्षे शुक्लचतुर्दशीदिने ॥
पुष्ये रवौ स्तम्भतीर्थे शुभशीलेन पंडिता (?) । विदधे चरितं ह्येतद् विक्रमार्कस्य भूपतेः" ॥

अर्थात् विक्रमना काळथी १४९० ना माह शुदि चतुर्दशी, पुष्य नक्षत्र अने रविवारना दिवसे खंभात तीर्थमां पंडित शुभशील-गणिए विक्रमचरित्रनो रचना करी.

ए प्रमाणे बे भिन्न भिन्न प्रशस्तिवाळी प्रतिओ उपरथी तेनो रचनासमय चोकस जाणी शकातो नथी, परन्तु एटलुं निश्चित छे के वि. सं. १४ .० के १४९९ मां आ ग्रन्थनी पूर्णाहुति करवामां आवेल छे.

आ ग्रन्थना संपादनमां पांच प्रतिओनो उपयोग करवामां आव्यो छे. तेमां प्रथमनी डहेलाना उपाश्रयना ज्ञानभंडारनी क–ख–ग संज्ञावाळी प्रतिओ लगभग सरखी छे, अने तेमां बहु पाठभेद नथी, पण ग्रन्थनो मोटो भाग छपाइ गया पछी पाछळ कढावेली घ संज्ञावाळी वीरना उपाश्रयनी प्रति अने डहेलाना उपाश्रयनी प्रतिमां पूर्वोक्त प्रतिओ करतां पुष्कळ पाठभेद, रचनाभेद अने अर्थसंदर्भमां तफावत छे. एकंदर उपरनी पांच प्रतिओमां प्रथमनी त्रण प्रतिओ लगभग सरखी होवाथी प्रथम वर्गमां मूकी छे अने बीजी बे प्रतिओमां तेथी घणी भिन्नता होवाथी तेने बीजा वर्गमां मूकवामां आवी छे. प्रथम वर्ग अने बीजा वर्गनी प्रतिओमां घणी विशेषताओ अने पुष्कळ पाठभेद जोवामां आवे छे एटलुं ज नहि, पण प्रथम वर्गनी प्रतिओमां विक्रमादित्यने लगता केटलाक कथाप्रबन्धो छे ते बीजा वर्गनी प्रतिओमां नथी. आ पुस्तकमां प्रथम वर्गनी प्रतिओने अनुसरी पाठ राखवामां आवेल छे. प्रथम वर्ग अने बीजा वर्गनी प्रतिआमां जे पुष्कळ विशेषताओ छे, तेमांनी केटलीक स्थूल विशेषताओ नीचे मुजब छे—

प्रथम वर्गनी प्रतिओ	बीजा वर्गनी प्रतिओ
प्रथम सर्ग	**प्रथम सर्ग**
विक्रमादित्यनी उत्पत्ति गन्धर्वसेनथी अने पक्षान्तरे गर्दभिल्लथी वर्णवी छे.	गन्धर्वसेननी हकीकत आपवामां आवी नथी.
छट्ठो सर्ग	**छट्ठो सर्ग**
बलतारतम्यविषये कथा श्लो. १–२४	[1] × × × ×
दान विषे पुलिन्द्रप्रबन्ध छे.	× × × ×

१ ज्यां × आवा प्रकारनुं चिह्न छे त्यां ते कथाप्रबन्ध के हकीकत नथी एम समजवुं.

नवमो सर्ग

आ सर्गमां पंचदंडछत्रनी कथा संक्षेपमां आपी छे.

प्रारंभमां—

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः क्रीडां कृत्वा बहिर्वने ।
आगच्छन् स्वगृहे राजमार्गे गान्छिकपाटके ॥
॥२॥ तत्रैव पाटके नागदमन्यास्तनयाऽनघा ।
देवदमन्यभिधा बाला विद्यते रूपशालिनी ॥

सर्ग ९ श्लो० १–२

देवदमनी परिणयन संबन्धना श्लो० ११७ छे अने त्यारबाद पांच आदेशनो निर्देश करवामां आव्यो छे.

प्रथम आदेश तामलिप्ती नगरीथी रत्ननी पेटी लाववा संबन्धे छे. श्लो० ११८–२४८

गान्छिका प्राह भो भूप! कार्यं चेद् विद्यते तव ।
तदा त्वं प्रथमं मामकीनत्वत्सदनान्तरे ॥
संलग्नां पद्यकां चार्वीं कारयित्वा धनैर्घनैः ।

नवमो सर्ग

पंचदंडछत्रकथा सविस्तर आपवामां आवी छे अने रचना तद्दन जुदी ज छे.

प्रारंभमां—

एकदा विक्रमो राजा पाटिकायां चतुष्पथे ।
गच्छन् गान्छिकवाटस्य मध्ये सौधोपरिस्थिताम् ।
काश्चिद् नारीं सशृंगारां जल्पन्तीमशृणोदिति ।
देहि रे दासि! वेगेन सन्मार्जनीं गृहाङ्गणे ॥

हस्तलिखित प्रति सर्ग ९ श्लो० १–२

देवदमनीपरिणयन रूप प्रथम आदेश छे. तेना श्लो० १९६ छे, अने त्यारबाद बीजा चार आदेशोनो निर्देश छे.

तुष्टाऽहं तव राजेन्द्र! पञ्चादेशान् कुरुष्व मे ।
यथा भवति ते छत्रं पवित्रं पञ्चदण्डजम् ॥ ॥२॥
प्रथमादेशतः पुत्रीं जित्वा मे विवाहय ।

मत्सुतां सारिपाशेन त्रिर्वारं लघुलाघवात् ॥
विजित्य परिणीयाशु पुत्र्या विनयपूर्वकम् ।
सद्यो विक्रमभूपाल! पश्चादेशान् करिष्यसि ॥

सर्ग ९ श्लो० २०-२२

बीजो आदेश सोपारक पुरमां सोमशर्मा ब्राह्मणनी स्त्री उमादेवीनुं चरित्र जाणी तेनी पासेथी सर्वरसदंड अने वज्रदंडनो प्राप्ति संबन्धे छे. श्लो० २४९-४२४

त्रीजो आदेश मतिसार मन्त्रीने देशनिकाल करवा संबन्धे छे. श्लो० ४२५-५१३

चोथो आदेश रत्नपुर जइने मतिसार नामना मन्त्रीने सन्मानपूर्वक पाछा लाववा अने सदा फळ आपनार आम्रबीजनी प्राप्ति संबन्धे छे. श्लो० ५१४-५६०

पांचमो आदेश सत्पात्रने दान आपवा अने विषापहार,भूमिस्फोटक अने मणिदंडनी प्राप्ति संबन्धे छे. श्लो० ५६१-६३३

दसमो सर्ग

छट्ठा सर्गनी शरुआतमां बलतारतम्य परीक्षा विषयक आ कथाप्रबन्ध आवी गयेलो छे, अहीं नथी.

पश्चात् शेषांस्तथाऽऽदेशांश्चतुरः क्रियतां (?) नृप! ॥

हस्तलिखित प्रति सर्ग ९ श्लो० ३९-४०

बीजो आदेश सोपारकपुरमां सोमशर्मा ब्राह्मणनी पत्नी उमादेवीनुं चरित्र जाणी तेनी पासेथी सर्वसिद्धिप्रद दंड तथा विजयदंडनी प्राप्ति संबन्धे छे. श्लो० १-४२५

त्रीजो आदेश स्तंभनपुर तीर्थमां जयकर्ण राजानी पासेथी रत्ननी पेटी लाववा संबन्धे छे. श्लो० १-४९०

चोथो आदेश उज्जयिनी नगरीमां धन्य शेठनी पत्नी काममंजरीनुं चरित्र अवलोकन करीने सर्वार्थकामप्रद अने सर्वव्याधिहर दंडनी प्राप्ति संबन्धे छे. श्लो० १-४२१

पांचमो आदेश विश्वरूप पुरोहितने दान आपवा बाबत अने विषापहार दंडनी प्राप्ति संबन्धी छे. श्लो० १-४६४

दसमो सर्ग

बलतारतम्य परीक्षाविषये कथाप्रबन्ध अहीं आपवामां आव्यो छे.

उपकारविषये कथाप्रबन्ध श्लो० २५२-३१०	× × ×
सत्त्वौदार्यन्यायमार्गपालनविषये कथाप्रबन्ध. श्लो० ३११-३३८	× × ×
अघटकुमारमिलनप्रबन्ध. श्लो० ५०५-६६५	× × ×
अगियारमो सर्ग	**अगियारमो सर्ग**
सदृशपत्नीमाननविषये कथा	× × ×
औदार्ये विक्रमादित्य	× × ×
स्त्रीचरित्रवीक्षण संबन्धे कथा	आ कथा थोडा फेरफार साथे नवमा सर्गमां पंचदंडछत्र कथाना चोथा आदेशमां आवेली छे.
कुशीलिनी स्त्रीविषये छाहडभार्यासंबन्ध अने वदान्यत्वे विक्रमार्कभूपसंबन्ध.	× × ×
धूर्तजनवीक्षण संबन्ध.	× × ×
औदार्ये स्त्रीराज्यगमन संबन्ध	× × ×
बारमो सर्ग	**बारमो सर्ग**
अहीं विक्रमादित्य संबन्धे चार चामरधारिणीए कहेली कथाओ छे.	अहीं विक्रमादित्य संबन्धे बे चामरधारिणीए कहेली बे कथा छे.
द्वितीय चामरहारिणी प्रोक्त कथा	× × ×
तृतीय चामरहारिणी प्रोक्त कथा	× × ×
चतुर्थ चामरहारिणी प्रोक्त कथा	द्वितीय चामरहारिणी प्रोक्त कथा

उपर जणाव्या मुजब प्रथम वर्ग अने बीजा वर्गनी प्रतिओमां घणो तफावत छे. ए सिवाय कथाओनी हकीकतमां पण थोडो घणो फेरफार छे. पहेला वर्गनी प्रतिओमांना घणा प्रबन्धो बीजा वर्गनी प्रतिओमां नथी. प्रथम अने बीजा वर्गनी प्रतिओमां पंचदंड-छत्र कथानी रचना तद्दन भिन्न छे, एटलुंज नहि पण प्रथम वर्गनी प्रतिओमां पंचदंडछत्र कथाना श्लोको ६३३ छे त्यारे बीजा वर्गनी प्रतिओमां पंचदंडछत्र कथाना श्लोको १९९६ छे, अने कथाना स्वरूपमां पण मोटो भेद छे. ते उपर बन्ने वर्गनी प्रतिओनी सरखामणीमां दर्शावेलो छे. तेथी बीजा वर्गनी प्रतिओमां आवेल पंचदंडछत्रनी कथाना कर्ता भिन्न होवा जोइए. अने ते पंचदंडकथा मूळ ग्रन्थ साथे जोडी दीधी होय एम संभवे छे. कदाच चरित्रकारे पोते ज पंचदंडछत्र कथानी सविस्तर जुदी स्वतंत्र रचना करी होय अने तेटलो भाग पाछळथी लेखकोए मूळ चरित्रनी पंचदंडनी कथाने बदले मूक्यो होय एम मानवुं पण बरोबर नथी, कारण के जो बन्ने कथाओना एक कर्ता होय तो बन्ने वर्गनी प्रतिओना पंचदंड कथाना स्वरूपमां मोटो फेरफार छे ते न होय. तेथी एम मानवुं वधारे सयुक्तिक लागे छे के बीजा वर्गनी प्रतिओमां आवेल पंचदंड कथानी रचना करनार जुदा ज होय अने पाछळथी तेने मूळ ग्रन्थ साथे जोडी देवामां आवी होय. गमे तेम होय तो पण विक्रमचरित्रनी वधारे प्रतो मेळवी आ संबन्धे वधारे गवेषणा करवानी आवश्यक्ता छे.

विक्रमादित्यना संबन्धमां पुरातत्त्वविदोमां अनेक मत-मतान्तरो प्रचलित छे, अने तेमां अत्यारे उतरवानी आवश्यकता नथी. परन्तु आ चरित्रमां अवन्तीमां गर्दभिल्ल नामनो राजा राज्य करतो हतो अने तेनो परोपकारी पुत्र विक्रमादित्य हतो. मतान्तरे विक्रमादित्यने गन्धर्वसेननो पण पुत्र जणावेल छे. तेणे श्री सिद्धसेन दिवाकरना उपदेशथी जैनधर्म ग्रहण कर्यो अने पृथ्वी ऋणरहित करी पोताना नामनो संवत्सर चलाव्यो. ते बुद्धिमान्, साहसिक, दानव्यसनी, परोपकारी अने विद्वानोना आश्रय रूप हतो. आ चरित्रमां तेना संबन्धे बधा कथाप्रबन्धो कहेवामां आव्या छे. तेणे प्रतिष्ठानपुरना शालिवाहन राजानी पुत्री सुकोमलानुं पाणिग्रहण कर्युं हतुं अने तेनाथी देवकुमार नामे पुत्र थयो, जेनुं बीजुं नाम विक्रमचरित्र हतुं. विक्रमादित्यना संबन्धमां बधी कथाओ अने हकीकतो

नो संग्रह ग्रन्थकारे पहेलाना ग्रन्थो अने सांभळेली लोककथाओना आधारे कर्यो हशे.

पुरातत्त्वविदोनी एक एवी मान्यता छे के उज्जयिनीना गर्दभिल्ले कालकाचार्यनी भागनी साध्वी सरस्वतीनुं अपहरण कर्युं अने आचार्ये तेने घणुं समजाववा छतां ते न मान्यो एटले तेमणे शकोनी मदद लइ गर्दभिल्लनो पराजय कर्यो अने सरस्वती साध्वीने छोडावी. त्यारबाद उज्जयिनीमां शकोनुं राज्य थयुं. पछी गर्दभिल्लना पुत्र विक्रमादित्ये मालव देशना लोकोनी मददथी शकोने हांकी काढ्या अने मालवाना लोकोए तेना विजयना स्मारक तरीके मालव संवत्‌नी शरुआत करी अने पाछळथी तेज संवत् विक्रमसंवत् तरीके प्रसिद्ध थयो. वळी बीजो मत एवो छे इ. स. चोथा शतकमां शकोने नसाडनार विक्रमादित्यनुं बिरुद धारण करनार चंद्रगुप्त बीजो ज विक्रमार्क छे अने ते दानवीर हतो, अने तेमणे ज प्रचलित मालव संवतने विक्रमसंवत तरीके चालु कर्यो.

सिद्धसेन दिवाकरे विक्रमादित्यने प्रतिबोध करी जैन कर्यो ए हकीकत आ चरित्रमां आवे छे एटले विक्रमादित्यना समकालीन सिद्धसेनदिवाकर विक्रमनी प्रथम शताब्दीमां थया एम मानवुं पडे छे, परन्तु बीजी रीते विचार करीए तो आ मान्यतामां वांधो आवे छे. सिद्धसेनदिवाकरना गुरु वृद्धवादी माथुरी वाचनाना प्रणेता आर्यस्कंदिलना शिष्य होवानुं प्रभावक चरित्रमां जणाव्युं छे अने आर्य-स्कंदिलनो समय वि. सं. ३५७ थी ३७० सुधीनो छे एटले सिद्धसेन दिवाकरनो समय ते पछीनो मानी शकाय. तेथी सिद्धसेन दिवाकरनो समय वि. सं. चोथा शतकना अन्ते जाय छे. तेथी संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्यनी साथे सिद्धसेन दिवाकरना समयनो मेळ कोइपण रीते घटी शकतो नथी, माटे विक्रमादित्यनी उपाधि धारण करनार गुप्तवंशी बीजो चन्द्रगुप्त सिद्धसेन दिवाकरनो समकालीन होय एम संभवित छे–एम केटलाक पुरातत्त्वविदोनी मान्यता छे. कारण के ते पण शकोनो नाश करनार अने घणो दानी हतो.

मालवामां विक्रमादित्य राज्य करतो हतो, त्यारे दक्षिणमां सातवाहन राजानुं राज्य हतुं अने तेणे युद्धमां विक्रमादित्यनो पराभव कर्यो हतो. आ हकीकत आ चरित्रमां आवेली छे. विक्रमादित्यनी पहेला अने पछी पण दक्षिणमां आन्ध्रोनुं राज्य घणा वर्षो सुधी हतुं अने आन्ध्रो सातवाहन कहेवाता एटले विक्रमादित्यना समकालीन सातवाहनने मानवामां खास वांधो नथी.

कवि कालिदासना प्रबन्धमां कालिदास अने वररुचिने विक्रमादित्यना समकालीन गणाव्या छे. कारण के विक्रमना नव रत्नोमां कालिदासनी साथे वररुचि अने वराहमिहिरनुं नाम छे, परन्तु आ श्रुतपरंपरा प्रामाणिक नथी, कारण के विक्रमनी छट्ठी शताब्दीमां थयेला वराहमिहिरने पण विक्रमना समकालीन ठरावेल छे. कालिदासनो समय अद्यापि निश्चित थयो नथी, परन्तु ते विक्रमनी प्रथम शताब्दीथी मांडी चोथी शताब्दी सुधीमां थयेलो होवानी भिन्न भिन्न मान्यता छे.

[1]हिमवंतस्थविरावळीमां महावीरना निर्वाण पछी विक्रमना राज्यारंभ सुधी ४१० वर्षनी कालगणना नीचे मुजब आपवामां आवेल छे.

कोणिक तथा उदायी	६०	बिन्दुसार	२५	बलमित्र-भानुमित्र	६०
नव नन्दो	९४	अशोक	३५	नभोवाहन	४०
चन्द्रगुप्त	३०	संप्रति	४९	गर्दभिल्ल अने शक	१६
		०	१		४१६

भगवान् महावीरना निर्वाण पछी ३१ वर्ष वीत्या बाद कोणिकना पुत्र उदायीए पाटलिपुत्र नगर वसाव्युं अने तेने मगधनी राजधानी करी त्यां राज्य करवा लाग्यो. ते जैन धर्ममां दृढ श्रावक थयो. त्यां तेने जैन साधुवेशधारी कोइ दुश्मने कपटथी मारी नांख्यो.

महावीरप्रभुना निर्वाण पछी ६० वर्ष वीत्या बाद नन्द नामे नापितपुत्र पाटलिपुरना राज्यसिंहासने बेठो. तेना वंशमां अनुक्रमे नव नंद थया. तेओए ९४ वर्ष सुधी राज्य कर्युं. त्यारबाद महावीर निर्वाण पछी १५४ मा वर्षे चाणक्यनी सहायथी मौर्य चंद्रगुप्ते नवमा नंदने पाटलिपुत्रनी राज्यगादी उपरथी काढी मूकीने पोते मगधनो राजा थयो. ते चाणक्यना उपदेशथी जैनधर्मनो दृढ श्रावक थयो. अति पराक्रमी ते राजाए पोताना राज्यनो विस्तार कर्यो अने मौर्य संवत् शरु कर्यो. ते राज्यगादी उपर त्रीश वरस रह्यो.

१ आ हकीकत श्रीमान् मुनिश्री कल्याणविजयजीना जैनकालगणनाना लेखमांथी लेवामां आवेल छे.

महावीर निर्वाण बाद १८४ मा वरसे चंद्रगुप्तनो स्वर्गवास थयो अने तेनो पुत्र बिन्दुसार राज्यासन उपर बेठो. तेणे २५ वरस सुधी राज्य कर्युं. ते जैनधर्मनो आराधक परम श्रावक हतो. त्यारबाद बिन्दुसारनो पुत्र अशोक महावीर निर्वाणथी २०९ मा वरसे पाटलिपुत्रना राज्यासन उपर बेठो. ते पहेलां जैन धर्मनो अनुयायी हतो, पण राज्यप्राप्ति पछी चार वरसे बौद्ध थयो. अशोकनो पुत्र कुणाल हतो, परन्तु ते अन्ध थयो होवाथी राज्यनो उत्तराधिकारी संप्रति थयो. महावीर निर्वाण बाद २४४ मा वरसे अशोक परलोकवासी थयो.

वीर निर्वाण संवत् २४४ मां संप्रतिनो पाटलिपुत्रमां राज्याभिषेक थयो, परन्तु त्यां ते पोताना दुश्मनोथी शंकित थइने पाटलिपुत्रनो त्याग करी उज्जयिनी जइ राज्य करवा लाग्यो. तेणे आर्य सुहस्तिना उपदेशथी जैन धर्म स्वीकार्यो अने भारत वर्षमां उपदेशको द्वारा जैन धर्मनो प्रचार कर्यो एटलुं ज नहि, पण अनार्य देशोमां उपदेशको मोकली जैनधर्मनो प्रचार कर्यो तथा अनेक जैनमन्दिरो अने जैन प्रतिमाओथी पृथ्वी अलंकृत करी.

महावीरनिर्वाणथी २९३ मा वरसे संप्रतिनो स्वर्गवास थयो, परन्तु तेने पुत्र नहि होवाथी उज्जयिनीनुं राज्यासन अशोकना पुत्र तिष्यगुप्तना पुत्र बलमित्र अने भानुमित्रने प्राप्त थयुं. ते बन्ने भाइओ जैनधर्मना परम उपासक हता, ते वीरनिर्वाण बाद २९४ मा वरस पछी उज्जयिनीनी राज्यगादी उपर बेठा अने वीरनिर्वाण ३५४ वरस पछी तेनो स्वर्गवास थयो. त्यारबाद बलमित्रनो पुत्र नभोवाहन उज्जयिनीना राज्यासन पर बेठो. नभोवाहन पण जैनधर्मी हतो. ते महावीरनिर्वाणथी ३९४ मा वरसे परलोकवासी थयो. त्यारबाद नभोवाहननो पुत्र गर्दभिल्ल उज्जयिनीना राज्यासन उपर बेठो. त्यां तेणे कालकाचार्यनी बहेन साध्वी सरस्वतीनुं अपहरण कर्युं. तेथी कालकाचार्य सिन्धमां सामन्त नामे शक राजा राज्य करतो हतो तेनी पासे गया अने तेनी मददथी उज्जयिनी उपर चढाइ करी तेमां गर्दभिल्ल मरायो. त्यारबाद त्यां शकोनुं राज्य थयुं.

त्यारबाद गर्दभिल्लना पुत्र विक्रमादित्ये शकोने जीती पोते उज्जयिनीनी राजगादी उपर बेठो. तेमणे ६० वरस सुधी राज्य कर्युं.

विक्रमादित्यनुं मरण महावीरनिर्वाणथी ४७० वरस वीत्या बाद थयुं. एटले महावीरनिर्वाण अने विक्रमादित्यना मरणनुं अन्तर ४७० वरसनुं छे.

आ चरित्रमां विक्रमादित्यना साहस, दान, परोपकार इत्यादि गुणो संबन्धे चमत्कारी अद्भुत कथा प्रबन्धो कहेवामां आव्या छे. अने विक्रमादित्यना पुत्र देवकुमारनुं पण वृत्तान्त आपेलुं छे.

आ चरित्रमां प्रसंगोपात्त बहारना घणा सुभाषितो अने दुहाओ आवे छे अने ते प्रसंगे उपदेश आपवानी शैलीने अनुसरी ग्रन्थकर्ताए मूकेला छे. तेमां बधी प्रतिओमां तेनी संख्या एक सरखी नथी. चरित्रकारे केटलाएक सुभाषितो तो मूक्या हशे अने वांचनारने ज्यां ज्यां बीजा सुभाषितो वधारवानी जरुर लागी त्यां तेणे वधारो पण कर्यो हशे.

एकंदर आ कथा मनोरंजक अने बोधप्रद छे, तेनुं ऐतिहासिक मूल्य केटलुं छे तेनी चर्चा अहीं करवी अप्रस्तुत छे.

प्रथम आ पुस्तक हेमचंद्राचार्य ग्रन्थमाळा तरफथी प्रकाशित थयुं हतुं, परन्तु अत्यारे तेनी छापेली नकलो नहि मळवाथी शुद्ध करी फरीथी तेने छापवामां आव्युं छे. प्रथम आवृत्तिमां जे श्लोको अपूर्ण आपवामां आव्या हता तेने वांचनारवो सवड खातर आ बीजी आवृत्तिमां पूरा आपवामां आव्या छे. अने वारंवार जे श्लोको आवे छे तेना सर्ग अने श्लोकनो अंक आपवामां आव्यो छे. तेथी प्रथम आवृत्ति करतां बीजी आवृत्ति घणी उपयोगी थशे.

आ पुस्तकनुं काळजीपूर्वक संशोधन करवामां आव्युं छे छतां दृष्टिदोषथी प्रेसमां छापतां अनुस्वार अने मात्रा वगेरे उडी जवाथी के अज्ञानथी जे कंइ अशुद्धि रही होय ते सुज्ञ वाचकोने सुधारी लेवा विनंति छे.

शारदाभवन
जैन सोसाइटी १५-अमदावाद.
सं. १९९६ आषाढशुक्ल पूर्णिमा

भगवानदास हरखचंद दोशी

विषयानुक्रमः

चतुर्थः सर्गः

पञ्चमः सर्गः

षष्ठः सर्गः

सप्तमः सर्गः

अष्टमः सर्गः

नवमः सर्गः

दशमः सर्गः

एकादशः सर्गः

द्वादशः सर्गः

मुद्रितपुस्तके पाठः	हस्तलिखितद्वितीयवर्गप्रतौ पाठः		
चलितः स ना	धावितः स ना	७९-२	८
हलिन्या	हल्यन्यो	,,	१०
तदाऽकस्मान्निराकृतः	प्रपन्नः शरणं द्रुतम्	,,	,,
आयातं	आयान्तं	,,	१४

४८तमे पत्रे ४१६तमश्लोकपादस्य संपूर्णोऽयं श्लोकः पश्चात् समुपलब्धः । स चायम्--

दट्ठूण परकलत्तं, किहि दा पत्थेइ निग्घिणो जीवो । ण य तत्थ किं पि सुक्खं, पावदि पावं च अज्जेदि ॥

मूलाराधना गा० ९२४

ॐ अर्हम्

श्रीशुभशीलगणिविरचितं

श्रीविक्रमचरितम् ॥

यस्याग्रेऽणुतुलां धत्ते प्रद्योतः पुष्पदन्तयोः ।
जीयात् तत् परमं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥१॥

राज्यं येन वितन्वता प्रथमतः सन्दर्शितानि क्षितौ,
लोकाय व्यवहारपद्धतिरलं दानं च दीक्षाक्षणे ।
ज्ञाने मुक्तिपथश्च नाभिवसुधाधीशोरुवंशाम्बर-
[1]त्वष्टा श्रीवृषभप्रभुः [2]प्रथयतु श्रेयांसि भूयांसि नः ॥२॥

माद्यद्दन्ति-[3]समीरजित्वरहय-प्रोद्यन्मणि-काञ्चन-
स्वर्नारीसम[4]रूपभूरिवनिता-प्रोल्लासिचक्रिश्रियम् ।
त्यक्त्वा यस्तृणवल्ललौ व्रतरमां तीर्थंकरः षोडशः,
स श्रीशान्तिजिनस्तनोतु भविनां शान्तिं नताखण्डलः ॥३॥

आनम्रानेकदेवाधिप-नृपतिशिरःस्फारकोटीर[5]कोटिः,
कल्याणाङ्कूरकन्दो यदुकुलतिलकः कज्जलाभाङ्गदीप्तिः ।
लोकालोकावलोकी मधुमधुरवचाः प्रोज्झितोदारदारः,
श्रीमान् श्रीउज्जयन्ताचलशिखरमणिर्नेमिनाथोऽवताद्वः ॥४॥

---

१ त्वष्टा=सूर्यः । २ स दिशतु क । ३ -समीरजेतृतुरग-ख । ४ जितरूप-ख । ५ कोटिरः=मुकुटम् ।

स्वामिन् ! मामुग्रसेनक्षितिपकुलभवां सानुरागां सुरूपां,
बालां त्यक्त्वा कथं त्वं बहुमनुजरतां मुक्तिनारीमरूपाम् ।
वृद्धां मूकामकुल्यां करपदरहितामीहसेऽशेषवित् श्राग्[1],
इत्युक्तो राजिमत्या यदुकुलतिलकः श्रेयसे सोऽस्तु नेमिः ॥५॥
कस्तूरीकृष्णकायच्छविरतनुफणारत्नरोचिष्णुभाली,
विद्युच्छाली गभीरानघवचनमहागर्जिविस्फूर्जितश्रीः ।
वर्षन् तत्त्वाम्बुपूरैर्भविजनहृदयोर्व्यां लसद्बोधिबीजा-
ङ्कूरं श्रीपार्श्वमेघः प्रकटयतु शिवानर्घ्यसस्याय शश्वत् ॥६॥
बाल्ये निर्जरनाथसंशयभिदे गीर्वाणशैलः पदा-
ङ्गुष्ठस्पर्शनमात्रतोऽजनि महे येनार्हता चालितः ।
व्योमव्यापितनुः सुरः शठमतिः कुब्जीकृतो मुष्टिना,
स श्रीवीरजिनस्तनोतु सततं कैवल्यशर्माङ्गिनाम् ॥७॥
लभते भाग्यतो बह्वीः सुष्ठु श्री-धी-यशस्ततीः ।
श्रीविक्रमार्क भूपाल इव देही सुपुण्यतः ॥८॥ तथाहि-

युगादिजिनपुत्रेणावन्तिना वासिता पुरी ।
अवन्तीत्यभवन्नाम्ना जिनेन्द्रालयशालिनी ॥९॥
मालवावनितन्वङ्गी-भास्वद्भालविभूषणम् ।
अवन्ती विद्यते वर्या पुरी स्वर्गपुरीनिभा ॥१०॥
तत्र श्रीजिनराजशामनरमामीमन्तिनी साम्प्रतं,
मौभाग्यं भजतां कथं न भुवनव्यामोहनप्रत्यलम् ? ।
यस्यां मौक्तिकहारवल्लिवदुरः शृङ्गारयत्युच्चकैः,
श्रीसर्वज्ञलसन्निकेतनतति[2]र्गङ्गातरङ्गोज्ज्वला ॥११॥
यत्र धर्मं दयामूलं कुर्वन् पौरजनोऽखिलः ।
अर्थकामाविहाप्नोति परत्र च शिवश्रियम् ॥१२॥ यतः—
धर्मसिद्धौ ध्रुवं सिद्धिर्द्युम्न[3]-प्रद्युम्नयोरपि ।
दुग्धोपलब्धौ सुलभा सम्पत्तिर्दधि-सर्पिषोः ॥१३॥
तत्रैव न्यायमार्गेण पालयन् जनताः सदा ।
भूपो गन्धर्वसेनोऽभूज्जिताशेषद्विषच्चयः ॥१४॥

१ श्राक्=शीघ्रम् ।

२ ततिः-कैलासशैलोपमाः ख । ३ अर्थकामयोरपि ।

अन्यदोज्जयिनीपार्श्वे-ग्रामे लक्ष्मीपुराभिधे।
ब्राह्मणीं विधवां वर्यां वीक्ष्य रागी नृपोऽभवत् ॥१५॥
लोभयित्वा धनाद् भर्तृहरपुत्रसमन्विताम्।
अङ्गीचकार गन्धर्वसेनो भूमिपतिस्तदा ॥१६॥
ब्राह्मणी मेदिनीनाथ-पत्नी भूत्वा क्रमात् प्रिया।
असूत तनयं सूर्यस्वप्नसंसूचितं वरम् ॥१७॥
जन्मोत्सवं नृपः कृत्वा सूनोर्विस्तरतस्तदा।
सूर्यस्वप्नाद् ददौ नाम विक्रमार्क इति श्रुतम् ॥१८॥
अथवा एवम्—
तत्र न्यायाध्वना सर्वा जनताः पालयन् सदा।
गर्दभिल्लो नृपो राज्यं चकार स्वर्गिनाथवत् ॥१९॥ यतः-
"शत्रूणां तपनः सदैव सुहृदामानन्दनश्चन्द्रवत्,
पात्रापात्रनिरीक्षणे सुरगुरुर्दीनेषु कर्णोपमः।
नीतौ रामनिभो युधिष्ठिरसमः सत्ये श्रिया श्रीपतिः,
स्वीयान्येष्वपि पक्षपातसुभगः स्वामी यथार्थो भवेत्" ॥२०॥
धीमती श्रीमतीत्याह्वे द्वे पत्न्यौ तस्य सुन्दरे।
अभूतां पञ्चबाणस्य रतिप्रीत्याविव क्रमात् ॥२१॥
दधाना धीमती गर्भं सुन्दरस्वप्नसूचितम्।
शुभेऽह्नि सुषुवे पुत्रं पूर्ववार्कं स्फुरद्द्युतिम् ॥२२॥
जन्मोत्सवं नृपः कृत्वाऽऽकार्य सज्जनबान्धवान्।
ददौ भर्तृहरेत्याख्यं पुत्रस्य मुदिताशयः ॥२३॥
वर्द्धमानः क्रमाद् भर्तृहरिपुत्रो दिने दिने।
मातापित्रोर्ददौ मोद-मब्धेरिन्दुरिवानिशम् ॥२४॥ यतः-
"उत्पतन् निपतन् रिङ्खन् हसन् लालावलीर्वमन्।
कस्याश्चिदेव धन्यायाः क्रोडमाक्रमते सुतः ॥२५॥
शर्वरीदीपकश्चन्द्रः प्रभाते रविदीपकः।
त्रैलोक्ये दीपको धर्मः सुपुत्रः कुलदीपकः" ॥२६॥
दधाना श्रीमती गर्भं सुस्वप्नोदयसूचितम्।

दान-शील-तपो-भाव-देवार्चादिपराऽभवत् ॥२७॥
रजनीप्रान्तसमये श्रीमत्या सुखसुप्तया ।
दृष्टोऽर्को विलसद्दीप्तिः स्वप्ने वृद्धिं व्रजन् स्फुटम् ॥२८॥
सम्प्राप्तसमये हारि-वासरेऽर्कोदयक्षणे ।
श्रीमती सुषुवे पुत्रं निधानमिव मेदिनी ॥२९॥
गर्दभिल्लः क्षमापालः कृत्वा जन्मोत्सवं मुदा ।
विक्रमार्केति नामादात् सूनोरर्कविलोकनात् ॥३०॥
सूर्योदयस्य वेलायां जायते यस्य जन्म तु ।
तस्य दीर्घं भवेदायुः पद्माया उदयः पुनः ॥३१॥
स्तन्यपानादिना पञ्च-धात्रीभिस्तनयः क्रमात् ।
पाल्यमानोऽभवन्माता-पित्रोर्हर्षोदयप्रदः ॥३२॥
पुत्रौ द्वावपि सद्रूप-लावण्यगुणशालिनौ ।
अभूतामश्विनीपुत्राविव क्षोणिपतेः क्रमात् ॥३३॥
भर्तृहरोऽन्यदाऽनङ्गसेनां भीमनृपाङ्गजाम् ।
गर्दभिल्लेन भूपेन सोत्सवं परिणायितः ॥३४॥
गर्दभिल्लो नृपोऽन्येद्युर्लसद्बलसमन्वितः ।
साधयामास निःशेषान् विद्वेषिमेदिनीपतीन् ॥३५॥ यतः-
"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥३६॥
उद्यमं साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमम्(मः) ।
षडेते यस्य विद्यन्ते तस्य दैवं पराङ्मुखम्" ॥३७॥
सन्मार्गेण सदा न्यायी पालयन् सकलाः प्रजाः ।
स्मारयामास सर्वेषां रामराज्यस्थितिं जने ॥३८॥
अन्येद्युः शूलरोगेण गर्दभिल्लमहीपतिः ।
मृत्वाऽकस्मान्मरुद्धाम जगाम धर्मतत्परः ॥३९॥
मृत्युकृत्यादिके कार्ये कृते मन्त्रीश्वरादयः ।

सदुत्सवं व्यधुर्भर्तृहरे राज्याभिषेचनम् ॥४०॥ यतः-
"सर्वाः सम्पत्तयः मद्यो जायन्ते तस्य जन्मिनः ।
प्राग्भवोपार्जितं यस्य पुण्यद्रविणमूर्जितम्" ॥४१॥
[1]भूपेन विक्रमादित्योऽपमानं गमितोऽन्यदा ।
एकाकी खड्गमादाय ययौ देशान्तरे क्वचित् ॥४२॥ यतः-
"माणे[2] पणट्ठइ जइ न तणु तो देमडा चइज्ज ।
मा दुज्जणकरपल्लवेहिं दंसिज्जंत भमिज्ज ॥४३॥"
पुर्यवन्त्यां द्विजो निःस्व एको नारायणाभिधः ।
आरराधामरीं पूजोपहारैर्भुवनेश्वरीम् ॥४४॥
बीजपूरं सुरी तुष्टा बहुजीवितदायकम् ।
ददौ द्विजन्मने तस्मै सदाकारं रसान्वितम् ॥४५॥
फलं लात्वा द्विजोऽवादीत् देव्यनेन फलेन किम् ? !
इदानीं मम दुःस्थस्य दीनस्येह द्विजन्मनः ॥४६॥
लक्ष्मीं विना नृणां भूरि जीवितव्यमपि स्फुटम् ।
जायते दुःखदं बाढं मृत्योरप्यधिकं स्फुटम् ॥४७॥ यतः-
"वरं रेणुर्वरं भस्म नष्टश्रीर्न पुनर्नरः ।
मुक्त्वैनं दृश्यते पूजा क्वापि पर्वणि पूर्वयोः ॥४८॥
जीवन्तो मृतकाः पञ्च श्रूयन्ते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥४९॥
वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितं जलेन हीनं बहुकण्टकाकुलम् ।
तृणैश्च शय्या वमनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये निधनस्य जीवितम्"॥
देवी प्रोवाच ते विप्र ! भाग्यं तादृग् न दृश्यते ।
यादृशेन रमा बह्वी भविष्यति तवालये ॥५१॥
गच्छ स्वस्थः स्वकस्थाने किञ्चिद् धनं भविष्यति ।
[3]श्रुत्वा तद्वाडवो देवीं नत्वाऽचालीत्फलान्वितः ॥५२॥
गत्वा गृहे कृतस्नान-देवपूजाक्रमो द्विजः ।
उपविष्टः फलं भोक्तुं चित्ते चिन्तितवानिति ॥५३॥

१ नृपेण ख । २ माने प्रनष्टे यदि न तनुस्ततो देशस्त्यज्यते । मा दुर्जनकरपल्लवैर्दर्श्यमानो भ्राम्यतु ॥ ३ श्रुत्वैनद् ख ।

[1]ममानेन दरिद्रस्य जीवितेनाधिकेन किम् ? ।
दीयते च नृपस्यास्य तदा स्याज्जगतः सुखम् ॥५४॥ यतः–
"आपन्नस्यार्त्तिहरणं शरणागतरक्षणम् ।
त्यागः पुण्यानुरागश्च राज्यलक्ष्मीलताऽम्बुदाः ॥५५॥
दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः" ॥५६॥
[2]ध्यात्वेति वाडवो भर्तृहराय प्रददौ फलम् ।
उक्त्वा तन्महिमाद्याप्त–धनश्च स्वगृहं ययौ ॥५७॥
भोक्तुमिच्छन् फलं दध्यौ भूपतिर्नोद्म्यहं खलु ।
जीवितेन मया किं स्यात् पट्टराज्ञीं विना च ताम् ॥५८॥
विचिन्त्येति फलं राज्ञ्यै ददौ स्नेहेन भूपतिः ।
राज्यादाय फलं ध्यातं किं स्यात् जीवितया मया ॥५९॥
जीवन्त्यां मयि चेत्पूर्वं मृत्युं हस्तिपको गमी ।
अहं तर्हि हतैवेति मत्वा त[3]स्मै फलं ददौ ॥६०॥

ध्यात्वा च पूर्ववत् ते[4]न दत्तं नगरयोषिति ।
नीचाऽहमिह मत्वेति वेश्याऽदात् भूभुजे च तद् ॥६१॥
तदेव फलमुर्वीशो ज्ञात्वा चागमकारणम् ।
तदा च प्राप्तवैराग्यो भूपश्चिन्तितवानिदम् ॥६२॥
"यां चिन्तयामि मततं मयि सा विरक्ता,
माप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च प[5]रितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥६३॥
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥६४॥
अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यता च ।

१ ममार्थिनो द– ख । २ 'यास्तेजस्वी तेजस्वी०' खपुस्तकेऽधिक. पाठः । ३ माऽस्मै ख । ४ तेन=हस्तिपकेन । ५ परिखिद्यति क ।

अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः ॥६५॥
अहो संसारवैरस्यं वैरस्यकारणं स्त्रियः।
दोलालोला (च) कमला रोगा भोगा देहं गेहम् ॥६६॥
धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता–
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुनाः निःशङ्कमङ्केशयाः।
अन्येषां तु मनोरथैः परिचितप्रासाद–वापीतट–
क्रीडा–काननकेलि–मण्डनजुषामायुः परं क्षीयते ॥६७॥
ध्यात्वेति भर्तृहरभूमिपतिर्विरक्तः,
संसारतः परमचिद्–जलमग्नचेताः[1]।
राज्यं विमुच्य तृणवत् वरकुम्भिताक्ष्यं–
सिद्धान्तसारमभजत् वरयोगमाशु ॥६८॥ यतः—
"[2]जह चयइ चक्कवट्टी पवित्थरं तत्तियं मुहुत्तेण।
न चयइ तहा अहन्नो दुब्बुद्धी खप्परं दमओ ॥६९॥

गत्वा भर्तृहरोपान्ते जगुर्मन्त्रीश्वरा इति।
स्वामिंस्त्वया विनेदानीं राज्यं सर्वं विनङ्क्ष्यति ॥७०॥
जगौ भर्तृहरो राज्यं कस्येदं कस्य बान्धवाः।
आत्मीयार्थं जनाः सर्वे मिलन्ति द्रुमपक्षिवत् ॥७१॥
माता–पितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेऽत्र व्यतीतानि कस्याहं कस्य बान्धवाः ॥७२॥
सहस्रशो मया राज्य–लक्ष्मीः प्राप्ता भवान्तरे।
वैराग्यश्रीन कुत्रापि लब्धा स्वर्गापवर्गदा ॥७३॥
भर्तृहरकृतवैराग्यशता(तका)वतारादिसम्बन्धोऽत्र ज्ञातव्यः॥
यतीनां कुर्वतां चिन्तां गृहस्थानां मनागपि।
जायते दुर्गतौ पातः क्षयश्च तपसः पुनः ॥७४॥ यतः–
"[3]थोवोवि गिहिपसंगो जइणो सुद्धस्स पंकमावहइ।
जह सो वारत्तरिसी हसिओ पज्जोयनरवइणा ॥७५॥

---

१ परमचित्प्रतिमग्न–क। २ यथा त्यजति चक्रवर्ती प्रविस्तरं तावन्मुहूर्तेण। न त्यजति तथाऽधन्यो दुर्बुद्धिः कर्परं द्रमकः॥
३ स्तोकोऽपि गृहिप्रसङ्गो यतेः शुद्धस्य पङ्कमावहति। यथा स वारत्तकर्षिर्हसितः प्रद्योतनरपतिना॥

[1]संभावो वीसम्भो, नेहो रइवइयरो य जुवइजणे।
सयणघरसंपसारो तव–सील–वयाइं फेडिज्जा ॥७६॥
[2]जोइस–निमित्त–अक्खर–कोउ–आएस–भूइकम्मेहिं।
करणाणुमोअणाहि अ साहुस्स तवक्खओ होइ ॥७७॥
[3]जह जह कीरइ संगो, तह तह पसरो खणे खणे होइ।
थोवो वि होइ बहुओ न य लहइ धिइं निरुंभंतो ॥७८॥
एवं भर्तृहरो जल्पन् मणि–तृणसमाशयः।
जगाम विपिने कर्तुं तपस्तीव्रं तमश्छिदे ॥७९॥
इतो राज्यं तदा शून्यं वह्निवेतालिकोऽसुरः।
मत्वाऽधिष्ठाय तस्थौ स क्रूरात्मा तत्क्षणात्तदा ॥८०॥
श्रीपतिं क्षत्रियं मत्वा कुलीनं मन्त्रिणस्ततः।
राज्ये भर्तृहरस्याशु स्थापयामासुरादरात् ॥८१॥

जघान श्रीपतिं रात्रौ वह्निवेतालिको मरुत्।
दृष्ट्वा भूपं मृतं प्रातर्मन्त्रिणो दुःखिनोऽभवन् ॥८२॥
एवं यं यं नृपं तत्र स्थापयन्ति स्म धीसखाः।
तं तं रात्रौ सदा वह्निवेतालो हन्ति दुष्टधीः ॥८३॥
मन्त्रिणः सततं भूरि–बलिं कुर्वन्ति शान्तये।
तथापि स सुरो दुष्टो नैव शान्तिमुपेयिवान् ॥८४॥
खलः सत्क्रियमाणोऽपि ददाति कलहं सताम्।
दुग्धधौतोऽपि किं याति वायसः कलहंसताम् ॥८५॥
दुज्जणजण–बब्बूलवण जइ सिंचीइ अमिएण।
तोइ ति कंटाफाटणाजातिहिं [4]तणइं गुणेण ॥८६॥ यतः—
"सद्भिः संसेव्यमानोऽपि शान्तवाक्यैर्जलैरिव।
प्लुष्टपाषाणवद् दुष्टः स्वाभिप्रायं न मुञ्चति ॥८७॥

१ सद्भावो विश्रम्भः स्नेहो रतिव्यतिकरो युवतिजने। स्वजनगृहसंप्रसारः तपः–शील–व्रतानि स्फेटयेत् ॥
२ ज्योतिष–निमित्ता–क्षर–कौतुकादेश–भूतिकर्मभिः। करणानुमोदनाभ्यां च साधोः तपःक्षयो भवति ॥
३ यथा यथा क्रियते संगस्तथा तथा प्रसरः क्षणे क्षणे भवति। स्तोकोऽपि भवति बहुर्न च लभते धृतिं निरुन्धन् ॥ ४ तणुइं खु।

स्नेहेन भूरिदानेन[1] कृतः स्वस्थोऽपि दुर्जनः ।
दर्पणश्चान्तिके तिष्ठन् करोत्येकमपि द्विधा ॥८८॥
दर्शयित्वाऽन्यदा भट्टमात्राह्वो नैगमः कलाम् ।
कस्यचिन्नगरोपान्ते विक्रमस्यामिलत् क्रमाद् ॥८९॥
द्रविणार्थमतो भट्टमात्रयुग् विक्रमो भ्रमन् ।
रोहणाद्रिसमीपस्थ-ग्रामे सायं क्वचिद्ययौ ॥९०॥
भट्टोऽप्राक्षीन्नरं कश्चिद् कथमत्राप्यते मणिः ।
स प्राहेह खनीमध्यमध्यास्येति प्रजल्पते ॥९१॥
हस्तं दत्त्वाऽलिके स्वीये हहा दैवेत्युदीरयन् ।
यो घातं ददते तस्मै रोहणो ददते मणिम् ॥९२॥
विक्रमार्को जगावेवं यः पुमानित्युदीरयन् ।
गृह्णाति रोहणाद्रत्नं कातरः स निगद्यते ॥९३॥
रोहणो यदि हा दैवशब्दं विनाऽधुना ध्रुवम् ।
दत्ते मह्यं मणिं ग्राह्यस्तदा स नान्यथा मया ॥९४॥ यतः–

उद्योगिनं नरं लक्ष्मीः समायाति स्वयंवरा ।
दैवं दैवमिति प्रोच्चैर्वदन्ति कातरा नराः ॥९५॥
विक्रमार्कस्ततो भट्टमात्रयुक्तो गिरौ ययौ ।
यतते विक्रमं दैन्यं भट्टो वाचयितुं नृपम् ॥९६॥
विक्रमार्को ददत् घातं गिरौ दैन्यं न जल्पति ।
भट्टोऽवददवन्तीतः समेतोऽवक् पुमानिति ॥९७॥
विक्रमार्क ! त्वदीयाम्बा रोगेण मृत्युमागमत् ।
श्रुत्वेति विक्रमो दैन्यं जल्पन् भालं जघान सः ॥९८॥
तावत् खनित्रघातेन सपादलक्षमूल्यकम् ।
प्रादुरासीन् मणिर्दीप्तिप्रद्योतितदिगन्तरः ॥९९॥
भट्टमात्रो मणिं लात्वा विक्रमार्कशयेऽमुचत् ।
ततश्च भवतो माता कुशलिन्यस्ति सोऽवदत् ॥१००॥
श्रुत्वैतत् कुशलोदन्तं मातुर्विक्रमभानुमान् ।
हर्षं ततान पाथोदध्वनेर्मयूरवत्तदा ॥१०१॥ यतः—

१ भूतिदा–क ।

"दयैव धर्मेषु गुणेषु दानं प्रायेण चान्नं प्रथितं प्रियेषु ।
मेघः पृथिव्यामुपकारकेषु तीर्थेषु माता तु मता नितान्तम् ॥
तीर्थे धर्मे च देवे च विवादो विदुषां बहुः ।
मातुश्चरणचर्चा तु सर्वदर्शनसंमता ॥१०३॥
गङ्गास्नानेन यत्पुण्यं नर्मदादर्शनेन च ।
तापीस्मरणमात्रेण तन्मातुः पदवन्दनात् ॥१०४॥
आदिगुणेषु विनयः सर्वशास्त्रेषु मातृका ।
सृष्टौ जलं दया धर्मे तीर्थेषु जननी मता ॥१०५॥"
एवं ध्यात्वा तदा श्रीमद्विक्रमार्कमहीपतिः ।
क्षेप्तुं रत्नं खनीमध्ये श्लोकमेकं जगाविति ॥१०६॥
धिग् रोहणगिरिं दीनदारिद्र्यव्रणरोहणम् ।
दत्ते हा दैवमित्युक्ते रत्नान्यर्थिजनाय यः ॥१०७॥
इत्युक्त्वा रत्नमुत्सृज्य तत्रैव विक्रमार्यमा ।
अवधूतस्य वेषेण तापीतीरमुपाययौ ॥१०८॥

श्रुत्वा शिवारवं भट्टमात्रोऽवक् तटिनीतटे ।
भूषणैर्भूषिता नारी मृताऽस्तीत्यत्र वक्ति सा ॥१०९॥
शब्दानुसारतस्तत्र गत्वा विक्रमभानुमान् ।
दृष्ट्वा तथास्थितां नारीं प्राह सत्यं वचस्तव ॥११०॥
अहं नास्याः स्त्रिया लामि भूषणानि मनागपि ।
रोचते यदि ते त्वं तु गृहाण मित्र ! तानि वा ॥१११॥
भट्टमात्रो जगौ नो चेत् त्वं लास्यस्या विभूषणम् ।
अहं चाण्डालिकं कर्म न कुर्वे साम्प्रतं सुहृन् ॥११२॥ यतः–
"क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु गच्छत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविशालकुम्भदलनव्यापारबद्धस्पृहः,
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी" ॥११३॥
पुनः शिवारवं श्रुत्वा भट्टमात्रो जगावदः ।
इयं वक्ति तवावन्तीराज्यं मासे भविष्यति ॥११४॥

ततो भुवि भ्रमन् श्रुत्वाऽवन्त्या राज्यस्य शून्यताम् ।
तपस्याग्रहणं भर्तृहरस्य च महीपतेः ॥११५॥
तदा विक्रममार्त्तण्डोऽवधूतवेषभृद् जगौ ।
अहं तत्र पुरे राज्यकृते यास्यामि साम्प्रतम् ॥११६॥
भविष्यति ममावन्त्याः राज्यं चेद्धि कदाचन ।
भट्टमात्र त्वयाऽवन्त्यामागन्तव्यं सुहृत्तम ! ॥११७॥
मयि राज्यं वितन्वाने न्यायमार्गेण सर्वतः ।
त्वामहं मन्त्रिणां मध्ये धुरि कुर्वे सुहृद्वरम् ॥११८॥ यतः-
"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते नित्यं षड्विधं प्रीतिलक्षणम्" ॥११९॥
मुत्कलाप्य तदा भक्त्या विक्रमं भट्टमात्रकः ।
स्मरन् मित्रगुणान् स्वीयनगरं समुपागमत् ॥१२०॥
ततो भ्रमन् महीपीठमवन्त्यामेत्य विक्रमः ।
राज्यशून्यस्वरूपं च पप्रच्छ मन्त्रिणोऽन्तिके ॥१२१॥

मन्त्रीश्वरा जगुर्भर्तृहरभूमिपतेः पदे ।
यो यश्च स्थाप्यते तं तं हन्ति भूपतिमग्निकः ॥१२२॥
विक्रमार्को जगौ मह्यं राज्यं ददत चेद्यदि ।
तदा दुष्टान्निहत्याशु सज्जनान् पालयाम्यहम् ॥१२३॥ यतः-
"दुष्टस्य दण्डः स्वजनस्य पूजा, न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषुराष्ट्ररक्षा, पञ्चैव धर्माः कथिता नृपाणाम्" ॥
मत्त्वं तस्य निरीक्ष्याशु दत्त्वा राज्यं च मन्त्रिणः ।
हृष्टा ययुर्निजं स्थानं ततो भूपो व्यधादिदम् ॥१२५॥
मृटकत्रयपक्वान्न-सत्पुष्पप्रकरैर्भृशम् ।
पुरप्रतोलिका-राजशय्या-गेहान्तरात्रनीम् ॥१२६॥
स्थाने स्थाने महीपालो राजमार्गं स्वसेवकैः ।
तलिकातोरणाद्यैश्च भूषयामास वेगतः ॥१२७॥
ततः खड्गमखैकाकी पल्यङ्कस्योपरि स्थितः ।
उन्निद्रो विक्रमादित्यो निर्भयो निशि सत्त्ववान् ॥ यतः-

"सीह सउण न चंदबल विजोइ धण रिद्धि ।
एकल्लो लक्खहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि ॥१२९॥
इतो बीभत्सरूपाङ्गभृद्वेतालो सुराधमः ।
पुरगोपुरमार्गेणाचालीद्राजगृहं प्रति ॥१३०॥
राजशय्यागृहेऽभ्येत्य खड्गं लात्वा नवं नृपम् ।
हन्तुं सद्योऽग्निवेतालो दधावे रौद्ररूपभृत् ॥१३१॥
भूपोऽवग् वह्निवेताल ! शयनेऽहं स्थितोऽधुना ।
पूर्वं लाहि बलिं पश्चाद् गृहाण मम विग्रहम् ॥१३२॥
मनोऽभीष्टं बलिं घ्रात्वाऽग्निवेतालो महीपतेः ।
वचोऽभयं निशम्येति दध्यावेषो हि सत्त्ववान् ॥१३३॥ यतः-
"देवोऽपि शङ्कते तेभ्यः कृत्वा विघ्नशतानि च ।
विघ्नैरस्खलितोत्साहाः प्रारब्धं न त्यजन्ति ये ॥१३४॥
सदाचारस्य धीरस्य धर्मतो दीर्घदर्शिनः ।
न्यायप्रवृत्तस्य सतः सन्तु वा यान्तु वा श्रियः ॥१३५॥
एकोऽहमसहायोऽहं कृशोहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते" ॥१३६॥
श्रुत्वा धैर्यवचस्तस्य विक्रमार्कस्य सात्त्विकम् ।
भाग्यं प्रवर्द्धमानं च विज्ञायावधितस्तदा ॥१३७॥
प्राह तुष्टोऽग्निवेतालः पुरः स्थित्वा महीपतेः ।
कुरु राज्यं प्रजा न्यायमार्गेण शाधि सन्ततम् ॥१३८॥
एवंविधो बलिर्वर्यो मह्यं देयस्त्वया सदा ।
ओमित्युक्ते महीशेनाग्निवेतालस्तिरोदधे ॥१३९॥
प्रभाते मन्त्रिणो भूपं जीवन्तं वीक्ष्य हर्षिताः ।
नत्वा प्रोचुरहो सत्त्वाधिकं त्वं जयताच्चिरम् ॥१४०॥
पुरमध्ये ततो नानातलिकातोरणादिभिः ।
मन्त्रिणः कारयामासुः स्थाने स्थाने सदुत्सवम् ॥१४१॥
एवं द्वित्रिदिनान् कृत्वा बलिं भूपो जगौ निशि ।
भो वेताल ! कियद् ज्ञानं कियती शक्तिरस्ति ते ॥१४२॥

१ न वह्निवेताल ईयिवान् क ।

वेतालः प्राह यदहं ध्यायामि तत्करो[1]म्यहम् ।
सर्वं जानामि सर्वत्र गच्छामि दूरतः स्वयम् ॥१४३॥
राजा प्राह कियन्मानं ममायुर्विद्यते वद ।
वेतालोऽवक् च वर्षाणां शतमायुः समस्ति ते ॥१४४॥
[2]नृपोऽवक् शून्ययुग्मं मे पतितं जीवितेऽत्र यत् ।
तन्नैव शोभते शून्यसंगवज्जल्पनाज्जने ॥१४५॥ यतः—
"शून्यं गृहं वनं शून्यं शून्यं चैत्यं महत्पुनः ।
नृपशून्यं बलं नैव भाति शून्यमिव स्फुटम् ॥१४६॥
तेन त्वमग्निवेताल ! ममायुषः शरच्छतात् ।
एकस्य कर्षणात् क्षेपाच्छून्ययुग्ममपाकुरु ॥१४७॥
वेतालः प्राह केनापि देवेन दानवेन वा ।
[3]तवायुः शक्यते न्यूनाधिकं कर्तुं[4] न जातुचित् ॥१४८॥
राजा प्राहाग्निवेताल ! त्वमहं स्वैः सुखं चिरम् ।
[5]ततोऽखिलाः सुखिन्यश्च जनता अपि भूतले ॥१४९॥
भूपवाचं निशम्याथाग्निवेतालः प्रमोदितः ।
गतः स्थानं निजं भूमीपतिः सुष्वाप निर्भयम् ॥१५०॥
[6]उन्निद्रोऽथ प्रगे भूपः कृत्वा प्राभातिकीं क्रियाम् ।
दिनं नीत्वोत्सवै रात्रौ सुष्वाप शयनालये ॥१५१॥
अकृत्वा बलिमुर्व्वीशः द्वितीयेऽह्नि पुरान्तरे ।
सुप्तं वीक्ष्याग्निवेतालः क्रुद्धः प्राहेति भूपतिम् ॥१५२॥
रे रे दुष्ट महीपाल ! ममाकृत्वा बलिं पुरे ।
सुप्तं त्वाम[7]सिघातेन हन्मि जागृहि सम्प्रति ॥१५३॥
[8]श्रुत्वाऽकस्माद् वचस्तस्य भूपोऽरुणविलोचनः ।
यमजिह्वासमं कोशादाकृष्यासिं जगाविति ॥१५४॥
रे रे दुष्ट ! न केनापि ममायुस्त्रोट्यते यदि ।
तदा बलिं कथं तुभ्यं दास्येऽहं भूरिशः सदा ॥१५५॥

१ –म्यथ **क** । २ नृपः प्रोवाच मे शून्यं **ख** । ३ कदाचित् क्रियते न्यूनमधिकं वा तवायुपि **क** । ४ च **ख** । ५ निष्ठावो राज्यनो नूनं विलसन्तौ महीतले **ख** । ६ प्रगे जागरितो भू० **क** । ७ ०मभिघाते० । ८ श्रुत्वा तस्य वचस्तादृग् समुत्थाय महीपतिः **ख** ।

शक्तिर्यद्यस्ति ते योद्धुमागच्छ मम सम्मुखम् ।
बहुकालान्मदीयोऽसिर्बाढमस्ति बुभुक्षितः ॥१५६॥
नो चेन्मुक्त्वा द्रुतं देहबलाहङ्कारमात्मनः ।
सेवां मम पदोपान्ते कुरु किङ्करवत्सदा ॥१५७॥
दृढसत्त्वेन भाग्येन भूपतेरग्निकस्तदा ।
तुष्टः प्राह वरं सद्यस्त्वं च मार्गय वाञ्छितम् ॥१५८॥ यतः–
"अमोघा वासरे विद्युत् अमोघं निशि गर्जितम् ।
नारीबालवचोऽमोघममोघं देवदर्शनम्" ॥१५९॥
राजाऽवग् यदि तुष्टोऽसि सत्त्वेन मम निर्जर ! ।
स्मराम्यहं यदा त्वां चागन्तव्यम् भवता तदा ॥१६०॥
मदुक्तं चाखिलं कार्यं कर्त्तव्यं भवता सदा ।
ममोपर्यसुर ! स्नेहो दातव्यः पितृवद् भृशम् ॥१६१॥
वेतालोऽवग् महीपाल ! निःशङ्कं राज्यमन्वहम् ।
कुर्वन् तिष्ठ सुखेन त्वं साहाय्यान्मरुतो मम ॥१६२॥

एतदुक्त्वा महीपालं नत्वा भक्त्याऽग्निकस्तदा ।
सन्तुष्टः सपदि स्थानं निजं स प्रययौ निशि ॥१६३॥
ततो नैशं महीपालो वृत्तान्तं तत्कृतं प्रगे ।
मन्त्रिणामग्रतः प्राह हृष्टा जाताश्च ते भृशम् ॥१६४॥
मुक्त्वाऽवधूतनेपथ्यं पूर्ववेषं ललौ नृपः ।
[2]यावत् तावन्ममेत्यत्र भट्टमात्रो नमन् मुदा ॥१६५॥
आलाप्य भूभुजा भट्टमात्रः स कुशलादि च ।
पृष्टः [3]प्राहाहमस्म्येष कुशली सकुटुम्बकः ॥१६६॥
स्मारं स्मारं तवानर्घ्यान् गुणौघांस्तादृशान् सदा ।
मिलितुं च समायातः पुरेऽत्र विक्रमार्यमन् ! ॥१६७॥
भट्टमात्रो जगौ मन्त्रीश्वराश्च श्रूयतामयम् ।
भूपतेर्गर्दभिल्लस्य सुतो विक्रमभानुमान् ॥१६८॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिणः सम्यगुपलक्ष्य च तत्क्षणात् ।
हर्षाद्वैतं ययुः पूर्णनिशाकरमिवाब्धयः ॥१६९॥

१ प्रपन्नवान् ख । २ इतोऽभ्येत्य नृपं भट्टमात्रो नत्वाऽग्रतः स्थितः ख । ३ प्राहाहमाकर्ण्य राज्यप्राप्तिं तवागमम् ख ।

श्रीमती जननी श्रुत्वा समायातं सुतं तदा ।
यावद्बभूव रोमाञ्चकञ्चुकीभूतविग्रहा ॥१७०॥
तावदुत्थाय भूपालो विष्टरान्मातृवत्सलः ।
यात्वा गृहे पदोपान्तं मातुर्भक्त्या ननाम सः ॥१७१॥
श्रीमती निजपुत्रस्य निशम्य चरितं तदा ।
हृष्टाऽतीवाभवत्पुत्रराज्यप्राप्त्युदयाद् भृशम् ॥१७२॥ यतः–
"ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥१७३॥
आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलम्भावधि चाधमानाम् ।
आगेहकर्मावधि मध्यमानामाजीविताात्तीर्थमिवोत्तमानाम् ॥
शृण्वन्ति पितुरादेशं ते केऽपि विरला सुताः ।
आदिष्टं ये तु कुर्वन्ति सन्ति ते यदि पञ्चषाः ॥१७५॥
एकेन वनवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा" ॥१७६॥

१ समायान्तम् क ।

मन्त्रिभिर्विक्रमादित्यनृपस्य सुमहोत्सवम् ।
अकारि मुदितैः पट्टाभिषेको विपुलस्तदा ॥१७७॥ यतः–
"धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः,
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः ।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां,
तत्किं यन्न ददाति किञ्च तनुते स्वर्गापवर्गावपि" ॥१७८॥
न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयन् **विक्रमार्यमा** ।
ददते सततं दानमर्थिभ्योऽभीप्सितं मुदा ॥१७९॥ यतः–
"केऽपि सहस्रम्भरयो लक्षंभरयश्च केऽपि केऽपि नराः ।
नात्मम्भरयः केचित् फलमेतत्सुकृतदुष्कृतयोः" ॥१८०॥
प्रातः सदा पदौ मातुः प्रपूज्य कुसुमोत्करैः ।
अन्यद्राज्यादिकं कार्यं चकारावनिनायकः ॥१८१॥ यतः–
"उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते" ॥१८२॥

अङ्ग–वङ्ग–तिलङ्गादिदेशप्रत्यर्थिभूपतीन् ।
ग्राहयामास भूपालः स्वीयाज्ञां विक्रमार्यमा ॥१८३॥
अन्येद्युः श्रीमती रोगव्याप्ता सद्धर्मतत्परा ।
वैद्यैश्चिकित्स्यमानाऽपि स्वर्ययौ जीवितक्षये ॥१८४॥ यतः–
"बद्धा येन दिनाधिपप्रभृतयो मञ्चस्य पादे ग्रहाः,
सर्वे येन कृताः कृताञ्जलिपुटाः शक्रादिदिक्पालकाः ।
लङ्का यस्य पुरी समुद्रपरिखा सोऽप्यायुषः संक्षये ।
कष्टं विष्टपकण्टको दशमुखो दैवाद् गतः पञ्चताम्" ॥
मृत्युकृत्यं नृपो मातुः कृत्वा शेषं यथाविधि ।
अमुञ्चन्तं शुचं प्रेक्ष्य बोधयन्तीति मन्त्रिणः ॥१८६॥ यतः–
"धर्म–शोक–भया–हार–निद्रा–काम–कलि–क्रुधः ।
यावन्मात्रा विधीयन्ते तावन्मात्रा भवन्त्यमी ॥१८७॥
तित्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्किकेसवा रामा ।
संहरिआ हयविहिणा सेसेसु जीएसु का गु(ग)णणा ॥१८८॥

इत्यादि शोकहृद्वाक्यं श्रुत्वा भूपोऽथ मन्त्रिणः ।
शोकं त्यक्त्वा नयाद्राज्यं कुर्वन्नासीद् भृशं सुखी" ॥१८९॥
इतो लक्ष्मीपुरे वैरिसिंहस्य मेदिनीपतेः ।
पत्नी पद्माऽभिधाऽसूत[1] सुतां पूर्वेव रोहिणीम् ॥१९१॥
बहुपुत्रोर्ध्वजातत्वात् हृष्टो भूमिपतिस्तदा ।
कृत्वा जन्मोत्सवं तस्याः कमलेत्यभिधां व्यधात् ॥१९२॥
वर्द्धमाना क्रमात्प्राप्त–यौवना कमला सुता ।
पित्रा दत्ताऽन्यदा[2] पाणौ गृहीता विक्रमांशुना ॥१९३॥
तनुश्रीजितकन्दर्प्पप्रिया शीलगुणान्विता ।
भूपस्य कमला जाता वल्लभा श्रीर्हरेरिव ॥१९४॥
अन्या अपि प्रिया बह्वीः परिणीय सदुत्सवम् ।
विक्रमादित्यभूपालः कुरुते राज्यमन्वहम् ॥१९५॥
भूपचित्तानुवर्त्तित्वात् शीलसौभाग्यसद्गुणैः ।
अतीव वल्लभा भूमिनाथस्य कमलाऽभवत् ॥१९६॥ यतः–

१ सूताङ्गजां क। २ परिणीताऽन्यदा पितृदत्ता विक्रमभानुना ख ।

"आदौ धर्मधुरा कुटुम्बनिचये क्षीणे च सा धारिणी ।
विश्वासे च सखी हिते च भगिनी लज्जावशाच्च स्नुषा ॥
व्याधौ शोकपरिवृते च जननी शय्यास्थिते कामिनी ।
त्रैलोक्येऽपि न विद्यते भुवि नृणां भार्यासमो बान्धवः" ॥
भट्टमात्रो महामात्यस्तस्यासीत्तीक्ष्णधीर्नयी ।
गम्भीरो लोभरहितो राजभक्तो गुणाम्बुधिः ॥१९८॥
साहसेन वशीभूतोऽग्निवेतालाभिधः सुरः ।
सर्वकार्येषु सान्निध्यं चकार तस्य भूपतेः ॥१९९॥
एतत्सर्वं महीशस्य राज्यादि क्रमतोऽभवत् ।
भट्टमात्राऽग्निवेतालौ सान्निध्यं[1] चक्रतुर्भृशम् ॥ यतः—
"पत्नी प्रेमवती सुतः सुविनयो भ्राता गुणालङ्कृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः ।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुयतिप्रायोपभोग्यं धनं,
पुण्यानामुदयेन सन्ततमिदं कस्यापि सम्पद्यते" ॥२०१॥

विक्रमार्कोऽन्यदा भ्रातृविरहाद् दुःखितो भृशम् ।
प्रेष्य भृत्यान् द्रुतं भर्तृहरमानीतवान् पुरम् ॥२०२॥
प्रणम्य चरणौ तस्य कृशत्वं वीक्ष्य भूपतिः ।
दध्याविन्थमहो चित्ते दुष्करं विद्यते तपः ॥२०३॥ यतः—
"धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता—
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासाद—वापीतट—
क्रीडाकानन—केलि—कौतुकजुषामायुः परिक्षीयते" ॥२०४॥
लगित्वा पदयोस्तस्य विक्रमार्को जगाविति ।
राज्यमङ्गीकुरुष्व त्वं प्रसद्य भगवन् ! मम ॥२०५॥
भर्तृहरो जगौ राज्यादिकलक्ष्मीं नरोत्तमाः ।
मुक्त्वा न[2] पुनरिच्छन्ति जातु गन्धनसर्पवत् ॥२०६॥
ततो भूपो जगावत्र स्थेयमत्र त्वया सदा ।
ऋषिः प्राह न युज्येत साधोः स्थातुं चिरं पुरे ॥२०७॥

---

१ सेवां च च० ख ।

२ नैव तदिच्छ० क ।

विक्रमार्को जगौ मामकीने गेहे त्वया सदा।
आहारोऽभ्येत्य लातव्यः प्रसह्य च ममोपरि ॥२०८॥
ऋषिः प्राह न साधूनामाहारमेकसद्मनि।
ग्रहीतुं युज्यते भूरिदोषाणां सम्भवान्नृप! ॥२०९॥
राजा प्राह तथाऽप्येकवारं मम निकेतने।
आगन्तव्यं त्वया लातुमाहारं दोषवर्जितम् ॥२१०॥
मानिते ऋषिणा भूपोऽभ्येत्य प्राह प्रियां प्रति।
ऋषेरस्य प्रदातव्य आहारो नित्यशस्त्वया ॥२११॥
ततो नृपगृहे गच्छन्नन्यदा स च तापसः।
वीक्ष्य स्नानपरां[1] भूपगेहिनीं ववले द्रुतम् ॥२१२॥
समुत्थाय[2] तथाऽवस्था भूपपत्नी कृतत्वरा।
पृष्ठौ तस्य ऋषेर्गत्वा प्रोवाचेति स्फुटाक्षरम् ॥२१३॥
भवता विजितं बाह्येन्द्रियजालमशेषतः[3]।
अन्तरङ्गं पुनर्नैव जितमीदृग्विधानतः ॥२१४॥ यतः-
"शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि।
मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेषमतिः कदा" ॥२१५॥
ध्यानमौनपरो भर्तृहराह्वस्तापसस्तदा।
बोधितुं पृथिवीपीठं जगामान्यत्र नीवृति ॥२१६॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्कार–गच्छनायक–परमगुरुविद्यमानश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्य–पण्डितशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरिते श्रीविक्रमादित्यराज्यप्राप्ति–भट्टमात्रा–ग्निवेताल–सेवकोत्पत्तिवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥

१ कुर्वाणा सवनं भूपपत्नीं वीक्ष्याचलद् बहिः ख। २ तथाविधा समुत्थाय ख। ३ वर्गम॰ ख।

द्वितीयः सर्गः।

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः सभायां समुपाविशत्।
पुरोधा–मन्त्रि–सामन्त–महेभ्यालीनतत्क्रमः ॥१॥
देहप्रमाणमादर्शं भासुरं सूर्यबिम्बवत्।
दिवाकीर्त्तिर्दधौ कश्चिदेत्य भूमिपतेः पुरः ॥२॥
तन्मध्ये निखिलां देहच्छायां स्वीयां मनोरमाम्।
विलोकयन्महीपालो यावच्चित्ते चमत्कृतः ॥३॥
भूपं चमत्कृतस्वान्तं जगौ प्रेक्ष्येति नापितः।
राजन्! सुरूपमात्मीयं विलोक्याचिन्ति यत्त्वया ॥४॥
तदेते मन्त्रिणो विज्ञाः कथयन्त्वधुना चिरात्।
नो चेदहं जडोऽप्यत्र कथयामि तवाग्रतः ॥५॥
पृष्टा भूमिभुजा सर्वेऽमात्या दध्युरिति स्फुटम्।
वाक्सारोऽयं नरः प्रायो दृश्यते साम्प्रतं ननु ॥६॥

एवं परस्परं सर्वे ध्यात्वाऽमात्या जगुस्तदा।
राजन्नयं महामानी पृच्छयतां म्लानिहेतवे ॥७॥ यतः—
"मानिनो हतदर्पस्य लाभोऽपि न सुखावहः।
जीवतो मानमूलं हि माने म्लाने कुतः सुखम्" ॥८॥
भूपपृष्टो दिवाकीर्त्तिरिति जजल्प शिष्टवाग्।
महीमध्येऽधुना कोपि मत्तुल्यो नास्ति मानवः ॥९॥
एवं गर्वं न कुर्वन्ति महान्तो मनुजाः कदा।
यतश्च विद्यते तारतम्यं सर्वशरीरिषु ॥१०॥
राजा प्राह दिवाकीर्त्ते! किं दृष्टं भवताऽद्भुतम्।
तत्सर्वं मत्पुरः सद्यो भवान् जल्पतु निर्भयम् ॥११॥
नापितोऽवक् प्रतिष्ठान–पुरे स्वर्गिपुरोपमे।
सालवाहनभूपालः शशास न्यायतो भुवम् ॥१२॥

१ सदा ख।

तस्यासीद् विजयाभार्याभवा पुत्री सुकोमला।
प्रसरद्रूपलावण्यशालिनी सत्कलाकला ॥१३॥
जातिस्मृत्या भवान् सप्त पूर्वान् वीक्ष्य निजांश्च सा।
नृद्विष्टा लकुटैर्घ्नन्ती नरं दृष्टिपथागतम् ॥१४॥
नरनामश्रुतेः स्नानं कुर्वती सततं मुहुः।
इत्थं सुखासनासीना नर्मणे[1] बाह्यकानने ॥१५॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

सुकोमलातनुप्रोद्यद्दीप्तिपुञ्जपुरो नृप[2]!।
तव च त्वद्गृहीतीनां देहदीप्तिरणूयते ॥१६॥
तस्या बाह्यवनं सर्वऋतुपुष्पफलाढ्यकम्।
सच्छायं विद्यते मेरुवनवत्सुन्दरं श्रिया ॥१७॥
तत्रास्ति क्षीरवन्नीर-पूरपूर्णं सरोवरम्।
स्वर्णबद्धतलस्वर्ण-पालिसोपानसुन्दरम् ॥१८॥
तयो रक्षां करोति स्म मार्जारीरूपभृन्सुरी।
तृण-कच्चर-काष्ठानां पुञ्जापनयनादिना ॥१९॥
विक्रमोऽवग् महाभाग! सत्यं प्रोक्तं त्वयाऽधुना।
यतो हि विद्यते रूप-तारतम्यं त्वयोदितम् ॥२०॥
श्रुत्वैतद्दापयामास यावत्तस्मै नृपो धनम्।
लक्षैःप्रमितं कोशादानीय सचिवान्तिकात् ॥२१॥
तावत्स पुरुषः स्वर्णं सप्तकोटिमितं स्फुरत्।
प्रकटीचकार भूपस्य पुरस्ताच्चित्रकारकम् ॥२२॥
दृष्ट्वा सुन्दरैरत्नपुञ्जं भूपादयो जनाः।
चमत्कृता बभूवुस्ते गतगर्वाः स्वचेतसि ॥२३॥
अहमल्पधनो मूर्खो दध्यौ यावदिलेडिति[3]।
तावद्दिव्यतनुर्दीव्यत्-कुण्डलः स सुरोऽभवत् ॥२४॥
दीव्यद्रूपतनुं देवं भूपाद्या वीक्ष्य मन्त्रिणः।
चित्ते चमत्कृता बाढं बभूवुस्तत्र संसदि ॥२५॥

---

१ क्रीडायै ख। २ मनाक् ग अनुगाद् क-घ। ३ इलेट-भूप।

राज्ञा पृष्टं कुतः स्थानात् कस्त्वं किमर्थमीयिवान् ? ।
स प्राहाहमगां स्वर्गाद्देवं नत्वै सुराचले ॥२६॥
तत्र ते साहसं गीयमानं श्रुत्वा खगाननात् ।[2]
प्रणम्य च जिनान् भूमिं वीक्षितुं चलितोऽस्म्यहम् ॥२७॥
प्रतिष्ठानपुरेऽपश्यं भूपपुत्रीं सुकोमलाम् ।
स्मृत्वा तां वीक्षितुं भूमिपतेऽहं चलितस्ततः ॥२८॥
त्वत्परीक्षाकृतेऽत्रागाम् देवोऽहं सुन्दराभिधः ।
त्वत्साहसेन तुष्टोऽस्मि वरं मार्गय वाञ्छितम् ॥२९॥
विक्रमोऽवग् न मे कार्यं केनचिद्वस्तुनाऽधुना ।
यतोऽस्ति मदनं सर्वं समीहितरमान्वितम् ॥३०॥
ततो देवो बलाद्दिव्यरूपकृद्गुटिकां तदा ।
दत्त्वा हृष्टो महीशाय विद्युदिव तिरोदधे ॥३१॥ यतः-
"सन्तुष्टानाममर्त्यानां दर्शनं जातमङ्गिनाम् ।
अमोघं जायते नैव निशागर्जितवत्कदा" ॥३२॥
भट्टमात्रोऽन्यदा भूपं दीनं दृष्ट्वेति पृष्टवान् ।
किमर्थं कुत्र ते स्वामिन् ! बाधते ते मनो वद ॥३३॥
विक्रमोऽवक् सुरोक्तायाः कन्यायाः सालभूभुजः ।
पाणिग्रहं विना नास्ति जानीहि मम जीवितम् ॥३४॥ यतः-
"अक्खाणमणी[3] कम्माण मोहणी तह वयाण बम्भचेरं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥३५॥
दिवा पश्यन्ति नो घूका काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति" ॥३६॥
मन्त्री प्राह ततस्तस्या नृद्वेषिण्या हि योषितः ।
तव पाणिग्रहोऽनर्थहेतोर्मूलं भविष्यति ॥३७॥
नगणां मरणायैवंविधा स्युर्योषितः खलु ।
न युज्यते विभो ! पाणिग्रहं कर्तुं च[4] तेन ते ॥३८॥

---

१ नुत्यं ख-ग । २ "नत्वा तत्र जिनान् भूमिमण्डलेऽहं भ्रमन् पुनः ।"-एतत्स्थानेऽयं श्लोकार्धं खपुस्तके । "किन्नराणां मुखाद् गीयमानं तावकसाहसम्" । -अयमुत्तरार्धः खपुस्तकेऽधिकः । ३ अक्षाणामशनी (जिह्वा) कर्मणां मोहनीयं तथा व्रतानां ब्रह्मचर्यम् । गुप्तीनां मनोगुप्तिश्चत्वारि दुःखेन जीयन्ते ॥ ४ ततस्तव ख ।

राजाऽऽह जीवितव्येन मदीयेन प्रयोजनम् ।
यदि स्याद्भवतस्तत्र क्रियतां यातुमुद्यमम् ॥३९॥
मन्त्री प्राह प्रतिष्ठानपूर्वासिपणयोषितः ।
स्वकीये मदना-कामकेल्यौ विज्ञे पणाङ्गने ॥४०॥
अत्रैव वसतस्ताभ्यां सह संकेतपूर्वकम् ।
गम्यते चेत्तदा[1] कार्यं सिद्ध्यते[2] नान्यथा पुनः ॥४१॥ (युग्मम्)
ते द्वे वेश्ये समाकार्य पृष्टे इति महीभुजा ।
प्रतिष्ठानपुरे काऽस्ति स्वीया नगरनायिका ? ॥४२॥
ताभ्यामुक्तं लसद्रूपा रूपश्रीर्मे सहोदरा ।
सुकोमला पुरो नृत्यं सन्ततं कुरुतेऽद्भुतम् ॥४३॥
राजा प्राह प्रतिष्ठानपुरे यास्याम्यहं द्रुतम् ।
तत्रास्माभिः पुरे वर्ये युवां सार्द्धं समेष्यथः ॥४४॥
ताभ्यामुक्तं समेष्यावो राजन् ! आवां समं त्वया ।
ततो राज्ञाऽग्निवेतालः स्मृतस्तत्रागमत् क्षणात् ॥४५॥

राज्यरक्षाकृते बुद्धिसागरं सचिवं तदा ।
मुक्त्वा तत्र प्रतिष्ठासुरभूद् विक्रमभूपतिः ॥४६॥
भट्टमात्राऽग्निवेतालपुरनारीद्वयान्वितः ।
चलितुं तुरगान्पञ्चानाययामास भूपतिः ॥४७॥
मिथो विचार्य पञ्चाश्वारूढाः पञ्चापि ते तदा ।
पश्यन्तोऽद्रिपुरग्रामवनानि चेलुरध्वनि ॥४८॥
प्रतिष्ठानपुरोद्यानागतान् पञ्च निरीक्ष्य तान् ।
उच्चैश्चकार मार्जारी फेत्कारत्रितयं तदा ॥४९॥
फेत्कारत्रयवृत्तान्तः पृष्टो भूमीभुजा तदा ।
महामात्रो जगावित्थं चतुर्णामग्रतः स्फुटम् ॥५०॥
आयास्यति महीपालपुत्री विद्वेषिणी नृषु ।
हनिष्यति नरान् स्त्रीश्चेत्येवं सूचयति स्म सा ॥५१॥
श्रुत्वैतद् विक्रमः प्राह स्पष्टं पण्याङ्गने प्रति ।
उपायो विद्यते कोऽत्र स्वात्मनो रक्षणेऽधुना ॥५२॥ यतः-

१ च तदा क-ग-घ । २ सिद्धिमद् ना० ख ।

"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताकाङ्क्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥५३॥
म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखितः ।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ? ॥५४॥
जीवन् भद्राण्यवाप्नोति जीवन् धर्मं करोति च ।
जीवन्नुपकृतिं कुर्यात् जीवतः किं न जायते ?" ॥५५॥
वेश्याऽऽह वनितारूपं कृत्वा मत्स्वजनालयम् ।
यामो यद्यविलम्बेन तदेष्टं ते भविष्यति ॥५६॥
ततः पञ्चापि स्त्रीरूपधराः पण्याङ्गनौकसि ।
प्रययुर्यावता तावत् हृष्टा सैव पणाङ्गना ॥५७॥
सम्पृष्टकुशलोदन्ता हृष्टचित्ता पणाङ्गना ।
अन्नपानादिना तासां व्यधाद् गौरवमादरात् ॥५८॥ यतः–
"पानीयस्य रसः शान्तः परान्नस्यादरो रसः ।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्रस्यावञ्चनं रसः" ॥५९॥

ततः सुकोमलापार्श्वे यान्तीं वेश्यां च नर्त्तितुम् ।
दृष्ट्वा ता वनिताः प्रोचुरिति प्रीतिपुरस्सरम् ॥६०॥
यदि पृच्छति भूपालपुत्री ह्युत्स्वरकारणम् ।
तदानीमिति जल्पेस्त्वमवन्तीतो महीपतेः ॥६१॥
आययुः पञ्च नर्त्तक्यो गीतगानविचक्षणाः ।
कुर्वत्या गौरवं तासामुत्स्वरोऽजनि तेन मे ॥६२॥ (युग्मम्)
प्रतिपद्येति रूपश्रीर्नर्त्तितुं पणभामिनी ।
कृतत्वरा ययौ यावत्तावत्प्राहेति भूपभूः ॥६३॥
उत्स्वरागमने हेतुं पृष्टेत्यऽवक् पणाङ्गना ।
अवन्त्याः पञ्च भूपस्य नर्त्तक्योऽत्र समाययुः ॥६४॥
अन्नपानादिना तासां कुर्वत्या गौरवं मम ।
उत्स्वरोऽजनि तेनात्र क्षम्यतां स्वामिनि ! द्रुतम् ॥६५॥
ततः सुकोमला प्राह त्वं पश्चाद् व्रज सम्प्रति ।
ममाग्रे नर्त्तितुं शीघ्रं ता एव प्रेषयाधुना ॥६६॥

---

१ गम्यते क–ग ।

"नवं नवं सदा गीतनृत्यग्रामपुरादिकम् ।
पश्यतो जायते पुंस आश्चर्यं मानसे भृशम्" ॥६७॥
सुकोमलोक्तमादायागतां रूपश्रियं गृहे ।
निरीक्ष्य विक्रमा प्राह किं त्वं तत्क्षणमागता? ॥६८॥
रूपश्रीः प्राह भूपालपुत्री वक्तीति मन्मुखात् ।
अवन्तीपुरनर्त्तक्यो नृत्यन्त्वद्य पुरो मम ॥६९॥
श्रुत्वैतन्मदनाकामकेल्याविति प्रजल्पतुः ।
आवां नृत्यं करिष्यावो गीतादि कः करिष्यति? ॥७०॥
ततोऽवग् विक्रमाऽहं तु गास्यामि मधुरस्वरम् ।
भट्टमात्रो वसन्तादिरागं रङ्गे करिष्यति ॥७१॥
वह्निवेतालिका वीणां विधिवद्वादयिष्यति ।
गम्यतां मदनाकामकेल्यौ तत्राशु तत्कृते ॥७२॥
दीव्यद्दुकूलवसनाभरणा स्वदेह-
च्छायाविनिर्जितसुरासुरनारीरूपाः ।
स्वच्छानघाम्बुविशदीकृतसर्वगात्राः
पश्चापि ता द्रुतमगुर्नृपपुत्रिकाग्रे ॥७३॥
सुकोमलारूपरमामनर्घ्यां निरीक्ष्य दध्यौ हृदि विक्रमेति ।
पातालकन्या किमु किन्नरी वा देवाङ्गना वा वसुधामियाय ॥
पश्चापि तास्तथारूपा दृष्ट्वा दध्यौ सुकोमला ।
यस्याग्रेऽमूः मदा नृत्यं कुर्वन्ति सोऽद्भुतो नृपः ॥७५॥
नर्त्तनं मदनाकामकेल्यौ यद्वत्प्रचक्रतुः ।
तद्वन् गीतादिकं चक्रुर्विक्रमाद्याः पणाङ्गनाः ॥७६॥
गीतमाकर्ण्य कर्णाप्यं विक्रमायाः सुकोमला ।
दध्यावियं दिवः कन्या किं वा पातालकन्यका ॥७७॥
सुकोमला जगौ चैवं विक्रमे! वरवर्णिनि ।
किं त्वमेकाकिनी गीतं रात्रौ गास्यामि मत्पुरः ॥७८॥
विक्रमा प्राह गास्यामि गैलक्षं यदि दास्यसि ।
सुकोमला जगौ स्वर्णलक्षं दास्याम्यहं तव ॥७९॥

ततश्च विक्रमा दध्याविदं भूपतिपुत्रिका।
औदार्यधैर्यदाक्षिण्यादिकप्रोद्यद्गुणान्विता ॥८०॥
बहुप्रपञ्चकरणान्नृद्वेषं त्यक्ष्यति क्रमात्।
भविष्यति सदाचारा सतीयं राजनन्दिनी ॥८१॥
सत्कृतास्तास्तया वस्त्रादिना पण्याङ्गना गृहे।
गत्वा सायं च वैकालं चक्रुरङ्घ्रिर्गतश्रमाः ॥८२॥
विक्रमार्को जगौ भट्टमात्रादीन् प्रति मोदितः।
सिद्धं समीहितं सर्वं गच्छतस्तत्र मेऽधुना ॥८३॥
दिव्यवेषाद्यलङ्कारा तत्रागाद् विक्रमा निशि।
यावत्तावन्महीपालपुत्री स्नानार्थमुत्थिता ॥८४॥
गत्वा दासी जगौ गातुं विक्रमाऽऽगात्सुकोमले।
राजसूः प्राह स्नानार्थं मत्पार्श्वे तां समानय ॥८५॥
पश्चादेत्य जगौ दासी विक्रमे! स्वामिनी मम।
त्वामाकारयति स्नानकृते तत्र कृतत्वरा ॥८६॥

विक्रमा च जगौ साभिज्ञानं कञ्चुकबन्धनम्।
स्वस्वामिनीकृतं छोटयिष्याम्यहं मनाग् यदि ॥८७॥
पश्चाशत्कम्बिकाभिर्मां स्वामिनी तुदते तदा।
तेन स्नानकृते नैव वक्तव्यं साम्प्रतं त्वया ॥८८॥
गत्वा तत्रेति जल्प त्वं त्वत्स्वामिन्याः पुरो द्रुतम्।
यात्वा दासी जगौ सद्यो विक्रमोक्तमशेषतः ॥८९॥
कृत्वा स्नानं समेत्यावग् भूपपुत्रीति तां प्रति।
आवामेकत्र भोक्ष्यावोऽधुनेत्येवं रुचिर्मम ॥९०॥
विक्रमाऽवग् द्वयोर्नार्योर्नैकत्राभाति भोजनम्।
जेमनं शोभते बाढं कुर्वतोः पुरुषस्त्रियोः ॥९१॥
भूपभूः प्राह नो नाम पुरुषस्य पुरो मम।
प्रवक्तव्यं मनाग् वत्से! भवत्या मदभीष्टया ॥९२॥
विधाय भोजनं राजपुत्री सद्यः सुकोमला।
गीतं श्रोतुं तदा चित्रशालायां समुपाविशत् ॥९३॥

१-र्गतक्रमाः ग।
२ गत्वा ग।

आलाप्यालाप्य गायन्त्या विक्रमाया मनोहरम् ।
सुकोमलां विना निद्रायितः परिकरोऽखिलः ॥९४॥
दृष्ट्वैतद् विक्रमा गीतं नृस्त्रीमिश्रं जगाविति ।
ईश्वरः सततं शोभां पार्वत्या लभतेऽद्भुताम् ॥९५॥
विष्णुः श्रिया हरिः शच्या रत्या प्रीत्या च मन्मथः ।
रोहिण्या चन्द्रमा रत्नादेव्या सहस्रदीधितिः ॥९६॥(युग्मम्)
"एकं ध्याननिमीलितं मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः,
पार्वत्या विपुले नितम्बफलके शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यत्क्रूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं,
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥९७॥
कृष्णात्प्रार्थय मेदिनीं धनपतेर्बीजं बलेर्लाङ्गलं,
प्रेतेशान् महिषो वृषश्च भवतः फालं त्रिशूलादपि ।
शक्ताऽहं तव भैक्षदानकरणे स्कन्दोऽपि गोरक्षणे,
दग्धाऽहं तव भिक्षया कुरु कृषिं गौर्या वचः पातु वः ॥९८॥
मेघश्याम श्रीमन्नेमे ! विद्युन्मालावन्मां मुक्त्वा ।
का ते शोभा भूभृच्छृङ्गे राजीमत्येत्युक्तो जीयाः" ॥९९॥
श्रुत्वैतद् भूपभूः प्राह गृह्णतीं पुरुषाभिधाम् ।
वारिताऽपि कथंकारं वक्षि तां दुखदां मम ॥१००॥
विक्रमा प्राह देवानां नाम गृह्णाम्यहं न तु ।
भूपभूः प्राह नामापि न ग्राह्यमसतां त्वया ॥१०१॥
सर्वजातिजजीवानां पुलिङ्गाह्वयधारिणाम् ।
विद्वेषो विद्यते मेऽत्र सप्तपूर्वभवस्मृतेः ॥१०२॥ यतः—
"यस्मिन् दृष्टे मनस्तोषो द्वेषश्च प्रलयं व्रजेत् ।
स विज्ञेयो मनुष्येण बान्धवः पूर्वजन्मनः" ॥१०३॥
यस्मिन् दृष्टे मनोद्वेषस्तोषश्च प्रलयं व्रजेत् ।
स विज्ञेयो मनुष्येण प्रत्यर्थी पूर्वजन्मनः ॥१०४॥
जजल्प विक्रमा ब्रूहि भवान् पूर्वान् सुकोमले ! ।
येनेदानीं मम ज्ञानव्यक्तिरपि भविष्यति ॥१०५॥

१ परिजनोऽ—ग ।

ततः सुकोमला पूर्वान् भवान् सप्त सविस्तरम् ।
विक्रमायाः पुरः प्राह रञ्जिता तद्गुणालिभिः ॥१०६॥ तथाहि–
इतश्च सप्तमे पूर्वे भवे लक्ष्मीपुरेऽनघे ।
आसीच्छ्रेष्ठी धनो नाम्ना तस्याहं श्रीमती प्रिया ॥१०७॥
तयोर्बभूव सत्स्वप्नसूचितस्तनयोऽन्यदा ।
कृत्वा जन्मोत्सवं चक्रे कर्मणेत्यभिधां पिता ॥१०८॥
व्यवसायं वितन्वानो बभूव धनवान् धनः ।
पुण्ये स्तोकं धनमपि व्ययति स्म तनौ न हि ॥१०९॥
मलक्लिन्नानि जीर्णानि वासांसि सकुटुम्बकः ।
धनः परिदधत् स्नेहरिक्तं भुङ्क्ते स्म भोजनम् ॥११०॥ यतः–
"दृढतरनिबद्धमुष्टेः[1] कोशनिषण्णस्य[2] सहजमलिनस्य ।
कृपणस्य कृपाणस्य केवलमाकारतो भेदः ॥१११॥
सङ्ग्रहैकपरः प्राप समुद्रोऽपि रसातलम् ।
दातारं जलदं पश्य समुद्रोपरि गर्जति" ॥११२॥
अन्यदा प्रियया प्रोक्तं स्वामिन्! स्वीयरमां खलु ।
दीनोद्धरणधर्मेषु सफलीकुरु भावतः ॥११३॥ यतः—
"अधः क्षिपन्ति कृपणा वित्तं तत्र यियासवः ।
सन्तश्च गुरुचैत्यादौ तदुच्चैः[3] फलकाङ्क्षिणः ॥११४॥
मा मंस्थाः क्षीयते वित्तं दीयमानं कदाचन ।
कूपारामगवादीनां ददतामेव सम्पदः ॥११५॥
अस्ति जलं जलराशौ क्षारं तत्किं विधीयते तेन ।
लघुरपि वरं स कूपो यत्राकण्ठं जनः पिबति" ॥११६॥
श्रुत्वैतद्वचनं पत्न्याः कृत्वा भ्रकुटिमञ्जसा ।
उत्पाट्य लकुटं हन्तुं दधावे तां धनस्तदा ॥११७॥
मृत्युभीता तदा नंष्ट्वा गताऽहं पितृसद्मनि ।
दारिद्र्यभावतो दुःखं कियत्कालं स्थिता पुनः ॥११८॥ यतः–

---

१ गाढतरनि–क । २ निषणस्य ख निष्पलस्य क । ३ समुच्चैः ख ।

पंथसमा नत्थि जरा खुहासमा वेअणा नत्थि ।
मरणसमं नत्थि भयं दारिद्दसमो वेरिओ नत्थि ॥११९॥
गतायां मयि तातस्य सदने धननैगमः ।
बभूव दुःखितो बाढं रन्धनादिकचिन्तया ॥१२०॥
तत्रागत्यान्यदा चाटुवचोभिः शठशेखरः ।
मां सन्मान्यानयामास धनः स्वीयनिकेतने ॥१२१॥ यतः-
"मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं कर्त्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्त्तलक्षणम्" ॥१२२॥
मयाऽन्येद्युर्जिनेन्द्रौकोगतया सखियुक्तया ।
एकलोहडिकस्यैव पुष्पैर(रा)र्चि जिनाधिपं(पः) ॥१२३॥
श्रुत्वा कस्यचिदास्यात् स एक लोहडिकव्ययम् ।
मूर्च्छितः पतितो भूमिपीठे निश्चेष्टकाष्ठवत् ॥१२४॥ यतः-
"न दातुं नोपभोक्तुं वा शक्नोति कृपणः श्रियम् ।
किन्तु स्पृशति हस्तेन नपुंसक इव स्त्रियम् ॥१२५॥
प्राप्तामपि न लभन्ते भोक्तुं भोगान् स्वकर्म्मभिः कृपणाः ।
किल भवति चञ्चुपाको द्राक्षापाकेषु काककुले" ॥१२६॥
शीतोपचारकरणैर्यावत् सज्जीकृतो मया ।
तावदेवं जगौ दन्तान् पिंषन् मां प्रति कर्कशम् ॥१२७॥
रे ! रे! दुष्टाशये ! पापे ! व्ययन्तीति धनं मम ।
स्तोकैरेव दिनै रिक्तीकरिष्यति निजं गृहम् ॥१२८॥
कारुण्यादधुना मुक्ता जीवन्ती त्वं मया प्रिये ! ।
मनागपि धनं नैव त्वया देयं क्वचित्कदा ॥१२९॥
कर्मणस्तनयोऽन्येद्युर्द्रम्ममेकं जिनालये ।
व्ययित्वा सदने यावदाययौ मुदिताशयः ॥१३०॥
श्रुत्वैतन्मूर्च्छितः श्रेष्ठी पपात पृथिवीतले ।
शीतोपचारतः स्वस्थीकृतः प्राहेति कर्कशम् ॥१३१॥
रे ! रे ! कुपुत्र ! मल्लक्ष्मीं व्ययन्नेवं त्वमन्वहम् ।
धान्यस्वर्णादिना रिक्तं मद्गेहं किं करिष्यसि ॥१३२॥

१ पथसमा नास्ति जरा क्षुत्समा वेदना नास्ति । मरणसमं नास्ति भयं दारिद्र्यसमो वैरिको नास्ति ॥

श्रुत्वैतत् तनयस्तातवचनं कर्कशं तदा ।
मौनमाधाय रहसि व्ययति स्म घनं धनम् ॥१३३॥ यतः—
"कुम्भः परिमितमम्भः पिबति पयःकुम्भसम्भवोऽम्भोधिम् ।
अतिरिच्यते सुजन्मा कश्चिज्जनकाद् निजेन चरितेन ॥१३४॥

शत्रुञ्जये युगादीशं नन्तुं सद्यो व्रजन् बहुः ।
दृष्टो मया पुनः पृष्टो भर्त्ता यात्राभिलाषया ॥१३५॥
स्वामिन् ! शत्रुञ्जये नन्तुं जिनं यान्ति घना जनाः ।
त्वमादिशाधुना देवनुत्यै शीघ्रं व्रजाम्यहम् ॥१३६॥
श्रुत्वैतद्वचनं प्राह रे ! प्रिये ! मत्कृतं पुरा ।
विस्मृतं स्मारयिष्यामि कुशाघातादिताडनैः ॥१३७॥
ततोऽहं निशि निर्गत्य श्रीमङ्घसहिता रहः ।
शत्रुञ्जयोजयन्तादियात्रां विस्तरतो व्यधाम् ॥१३८॥
शत्रुञ्जयगिरौ श्रीमद्गुरूणामाननान्मया ।
तीर्थयात्राफलं ह्येवं श्रुतमेकाग्रचित्तया ॥१३९॥ यतः-

"आरम्भाणां निवृत्तिर्द्रविणसफलता सङ्घवात्सल्यमुच्चै-
नैर्मल्यं दर्शनस्य प्रणयिजनहितं जीर्णचैत्यादिकृत्यम् ।
तीर्थौन्नत्यं प्रभावं (वः) जिनवचनकृतिस्तीर्थकृत्कर्मकृत्यं,
सिद्धेरासन्नभावः सुरनरपदवी तीर्थयात्राफलानि ॥१४०॥

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं नत्वा रैवतकाचलम् ।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते ॥१४१॥
पल्योपमसहस्रं तु ध्यानाद् लक्षमभिग्रहात् ।
दुष्कर्म क्षीयते मार्गे सागरोपमसञ्चितम् ॥१४२॥"
कृत्वा यात्रामहं यावदागां हृष्टा स्वसद्मनि ।
तावद् दुष्टाशयः कान्तो मां दृष्ट्वाऽभूत्क्रुधाऽरुणः ॥१४३॥
उत्थितो भृकुटीं कृत्वा जल्पन्नेवं पुनः पुनः ।
रे दुष्टे ! मे धनं सर्वं व्ययित्वाऽत्रागताऽसि यत् ॥१४४॥
तत्फलं तत्क्षणात्तुभ्यं दर्शयिष्यामि साम्प्रतम् ।
लगुडानां महाघातैर्यमदण्डसहोदरैः ॥१४५॥

जल्पन्नेवं महापापो लगुडैर्मां दृढं तथा ।
जघानाहं यथा प्राणैः सर्वैर्मुक्ता क्षणादपि ॥१४६॥
ततोऽहं विशदध्यानात् गतासुः षष्ठके भवे ।
चम्पापुर्यां मधुक्षोणिपतेः पद्मा सुताऽभवम् ॥१४७॥ यतः–
आर्त्ते तिर्यग्गतिस्तथा गतिरधो ध्याने तु रौद्रे सदा,
धर्मे देवगतिः शुभं च हि फलं शुक्ले तु जन्मक्षयः ।
तस्माद् व्याधिरुगन्तके हितकरे संसारनिस्तारके,
ध्याने शुक्लवरे रजःप्रमथने कुर्यात्प्रयत्नं बुधः ॥१४८॥"
वर्द्धमाना क्रमात्प्राप्ताऽखिलचारुकलागमा ।
अहं प्रापं मनोहारि यौवनं मोहनं नृणाम् ॥१४९॥
मधुना मेदिनीशेन जितशत्रोः सदुन्मवम् ।
दत्ता कल्याणमत्तेभतुरङ्गमणिसंयुता ॥१५०॥
जितशत्रुर्महीशो मां परिणीय सदुत्सवम् ।
गत्वा पुरे ददौ मह्यं मप्तभूमिगृहं महत् ॥१५१॥

ममोपर्यन्यदा लक्ष्मीपुरेशधनभूपतेः ।
सुता मदीयकान्तेन परिणिन्ये कलावती ॥१५२॥
अन्यदा श्रीपुराधीशो रत्नसारमहीपतिः ।
कुण्डले प्राभृतीचक्रे रात्ने चन्द्रपुरेशितुः ॥१५३॥
मया मुहुर्मुहुर्बाढं कुण्डले मार्गिते अपि ।
जितशत्रुर्नवीनायै जाथायै सादरं ददौ ॥१५४॥
"प्रायेण मनुजो वस्तु पराचीनं लसत्तमम् ।
मुक्त्वा वस्तुनि सततं नवीने कुरुते रुचिम् ॥१५५॥
स्वाधीने च कलत्रे नीचः परदारलम्पटो भवति ।
[1]संपूर्णेऽपि तटाके काकः कुम्भोदकं पिबति ॥१५६॥
अष्टापदादितीर्थेषु गच्छन्तं मेदिनीपतिम् ।
कलावतीयुतं वीक्ष्यागदमित्थं नृपाग्रतः ॥१५७॥
विवन्दिषा चिरं मेऽस्ति नन्तुमष्टापदेऽर्हताम् ।
तेन त्वां पूरय स्वामिन् ! सार्धं नयनतोऽधुना ॥१५८॥ यतः–

१ स्वच्छोदके क.

"कर्त्तुः स्वयं कारयितुः परेण, तुष्टेन [1]भावेन तथाऽनुमन्तुः।
साहाय्यकर्त्तुश्च शुभाशुभेषु, तुल्यं फलं तत्त्वविदो वदन्ति ॥१५९॥
राजा निरुत्तरीकृत्य मां नव्यगृहिणीयुतः।
अष्टापदादितीर्थेषु यात्रां कृत्वाऽऽगमद् गृहम् ॥१६०॥
नवीनान्यन्यदा सर्वाभरणानि महीपतिः।
अकारयत्कलावत्या नचैकमपि मे तदा ॥१६१॥
सपत्न्या भूषणान्येक्ष्य प्रोक्तं पत्युः पुरो मया।
ममापि कारय स्वामिन्! भूषणानि नवानि च ॥१६२॥
श्रुत्वैतत् भृकुटीं कृत्वा जजल्पेति महीपतिः।
एतत्त्वया न वक्तव्यं वाञ्छत्या हितमात्मनः ॥१६३॥
एवं कलावतीसक्तमानसेन महीभुजा।
कदापि पूरितस्तस्मिन् भवे मे न मनोरथः ॥१६४॥ यतः—

"[2]हत्थी दम्मइ संवच्छरेण मासेण दम्मइ तुरगो।
महिलाए किर पुरिसो दमए एगेण दिवसेण ॥१६५॥
जे नामंति न सीसं कस्स वि भुवणे वि जे महासुहडा।
रागंधा गलिअबला रुलंति महिलाण चरणतले ॥१६६॥
मरणे वि दीणवयणं माणधरा जे नरा न जंपंति।
ते वि हु कुणंति लल्लिं बालाणं नेहगहगहिला ॥१६७॥
हरिहरचउराणणचंदसूरखंदाइणो वि जे देवा।
नारीण किंकरत्तं कुणंति धि द्धी विसयतण्हा" ॥१६८॥
आर्त्तध्यानपरैवाहमपूर्णे[3]च्छा मृता ततः।
पञ्चमके भवेऽभूवं मृगी मलयपर्वते ॥१६९॥
आर्त्ते तिर्यग्गतिस्तथा गतिरधो ध्याने तु रौद्रे सदा,
धर्मे देवगतिः शुभं बत फलं शुक्ले तु जन्मक्षयः।

---

१ चित्तेन क। २ हस्ती दम्यते संवत्सरेण मासेन दम्यते तुरगः। महिलया किल पुरुषो दम्यते—एकेन दिवसेन ॥ ये नामयन्ति न शीर्षं कस्यापि भुवनेऽपि ये महासुभटाः। रागान्धा गलितबला लुठ्यन्ते महिलानां चरणतले ॥ मरणेऽपि दीनवचनं मानधरा ये नरा न जल्पन्ति। तेऽपि खलु करोति लल्लिं (चाटु) बालानां स्नेहग्रहग्रहिलाः ॥ हरिहरचतुराननचन्द्रसूरस्कन्दादयोऽपि ये देवाः। नारीणां किंकरत्वं कुर्वन्ति धिक् धिक् विषयतृष्णां ॥ ३ मपूर्तेच्छा ख।

तस्माद् व्याधिरुगन्तके हितकरे संसारनिस्तारके,
ध्याने शुक्लवरे रजः प्रमथने कुर्यात् प्रयत्नं बुधः ॥१७०॥
तत्राप्येको मृगो मेऽभूत् पतिर्दुष्टतराशयः ।
यद् यदहं तदाऽवोचं तत्तदङ्गीचकार न ॥१७१॥ यतः—
"[1]जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोअस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति ॥१७२॥"
चरन्ती विपिनेऽन्येद्युर्निरीक्ष्य मुनिमेककम् ।
शान्तं दान्तं तदाऽभूवं जातिस्मृत्या युता चिरात् ॥१७३॥
ततोऽहं भावतो नित्यं वितन्वाना नुतिं मुनेः ।
अवोचमिति मे पत्युः कुरङ्गस्य पुरोऽन्यदा ॥१७४॥
स्वामिन् ! अस्मिन्वने साधुरेकस्तिष्ठति शान्तिमान् ।
तस्य प्रणामतः पापं याति पूर्वभवार्जितम् ॥१७५॥

"साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं तीर्थभूता हि साधवः ।
तीर्थं पुनाति कालेन सद्यः साधुसमागमः ॥"१७६॥
तेन त्वं व्रज तत्रैव वन्द्यते स मुनीश्वरः ।
इत्युक्तः स क्रुधा प्राह रक्तनेत्रश्च मां प्रति ॥१७७॥
रे ! दुष्टे ! पण्डितंमन्ये एवं मम पुरोऽधुना ।
उपदेशं ददन्ती(दाना) त्वं निर्लज्जे किं न लज्जसे ? ॥१७८॥
इत्युक्त्वाऽहं हता तुर्यभवे तेन दुरात्मना ।
सुध्यानात्प्रथमे स्वर्गेऽभूवं देवी विभावसोः ॥१७९॥
[2]ठाणं उच्चुच्चयरं मज्झं हीणं च हीणतरगं वा ।
जेण जहिं गंतव्वं चिट्ठा वि से तारिसी होइ ॥१८०॥
विभावसुः सुरः सोऽपि पूर्वपत्नीवचोरतः ।
मदीयोक्तं मनाग् नैव मन्यतेऽत्यन्तदुष्टहृत् ॥१८१ ॥यतः–

१ यदेव विधिना लिखितं तदेव परिणमति सकललोकस्य । इति ज्ञात्वा धीरा विधुरेऽपि न कातरा भवन्ति ॥

२ स्थानमुच्चोच्चतरं मध्यं हीनं च हीनतरकं वा । येन यत्र गन्तव्यं चेष्टाऽपि तस्य तादृशी भवति ॥

"[1]ईसा–विसाय–मय–कोह–माया–लोभेहिं एवमाईहिं।
देवा वि समभिभूआ तेसिं कुत्तो सुहं नाम" ॥१८२॥
मयोक्तमन्यदा स्वामिन्! ममास्ति शाश्वतार्हतः।
नन्तुमिच्छा च तेन त्वं तां च पूरय सम्प्रति ॥१८३॥
तेनेति धर्षिता वाढमहं दुष्टात्मना तदा।
अतः परं न वक्तव्यं भवत्यैवं मया मह ॥१८४॥
ततोऽहं मौनमाधाय निन्दन्ती कर्मणः स्थितिम्।
स्वर्गायुर्निखिलं पूर्ण्यकार्यं दुःखेन पूरिता ॥१८५॥ यतः–
"जं विहि करइ स होइ होइ न जं जीअ चिंतवइ।
ईमई चिंति पडेइ आहट दोहट केवला" ॥१८६॥
ततश्च्युत्वा तृतीयेऽहं भवे पद्मपुरे पुरे।
मुकुन्दाह्वद्विजप्रीतिपत्नीगर्भे समागमम् ॥१८७॥
प्रीतिः पूर्णदिनेऽसूत सुखेन तनयां तदा।
कृत्वा जन्मोत्सवं पित्रा दत्तं नाम मनोरमा ॥१८८॥
क्रमेण वर्द्धमानाऽहं पाठिताः सकलाः कलाः।
तथाऽभूवं लसद्धर्म्मकर्मशास्त्रविशारदा ॥१८९॥ यतः–
जा[2]एण जीवलोए दो चेव नरेण सिक्खिअव्वाइं।
कम्मेण जेण जीवइ जेण मओ सुग्गइं जाइ ॥१९०॥
शोषाभिधपुरे देवशर्म्मणश्च द्विजन्मनः।
सदुत्सवमहं दत्ता तातेन हितकाङ्क्षिणा ॥१९१॥
निरन्तरं द्विजः सोऽपि रात्रिभोजनतत्परः।
स्नानादिना जलं भूरि क्षिपन् हन्ति च पूतरान् ॥१९२॥
संहारं कुरुते कु[3]न्थुकीटिकादितनूमताम्।
भूयो भूरिपयःपूरप्लावितावनिमण्डलात् ॥१९३॥
मयोक्तं कान्त! मन्धानानन्तकायादिभक्षणात्।

१ ईर्ष्याविषादमदक्रोधमायालोभैरेवमादिभिः। देवा अपि समभिभूतास्तेषां कुतः सुखं नाम॥
२ जातेन जीवलोके द्वे एव नरेण शिक्षितव्ये। कर्मणा येन जीवति येन मृतो सुगतिं याति॥ ३ कम्बु–क।

जीवहिंसाविधानाच्च लभन्ते कुगतिं जनाः ॥१९४॥
यतः पुराणेऽप्युक्तम्—
"कूपेषु अधमं स्नानं वापीस्नानं च मध्यमम् ।
तटाके वर्जयेन् स्नानं नद्यां स्नानं न शोभनम् ॥१९५॥
गृहे चैवोत्तमं स्नानं जलं चैव च शोधितम् ।
तथा त्वं पाण्डवश्रेष्ठ ! गृहे स्नानं समाचर ॥१९६॥
आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥
चित्तम(स्या)न्तर्गतं पापं तीर्थस्नानेन शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥१९८॥
संवत्सरेण यत्पापं कैवर्तस्य च जायते ।
एकाहेन तदाप्नोति अपूतजलसङ्ग्रही ॥१९९॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥२००॥

चत्वारो नरकद्वारा प्रथमं रात्रिभोजनम् ।
परस्त्रीगमनं चैवं सन्धानानन्तकायिके ॥२०१॥
पुत्रमांसं वरं भुक्तं न तु मूलकभक्षणम् ।
भक्षणान्नरकं गच्छेद् वर्ज्जनात् स्वर्गमाप्नुयात् ॥२०२॥
अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते ।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्षिणा" ॥२०३॥ इत्यादि ।
एवमुक्तोऽपि बहुशो दुष्टात्मा जीवमर्दनात् ।
विरराम मनाग् नैवाभव्यजीव इव द्विजः ॥२०४॥ यतः—
"वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां मर्कटस्य च ।
ऐकाग्रहस्तु[1] मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा" ॥२०५॥
अन्येद्युः कुत्रचित् ग्रामादानीता शाटिकाऽद्भुता ।
मार्गितापि भृशं नैव तेन मह्यं ददे तदा ॥२०६॥
एवं दुरात्मनाऽपूरि नेन मे न मनोरथः ।
यावज्जीवं ततो जाता दुःखयुक्ताऽहमन्वहम् ॥२०७॥ यतः—

१ एकग्रहसुमीनानां क एको ग्रहस्तु ख ।

"चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा, क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः।
अर्थातुराणा न सुहृन्न बन्धुः, कामातुराणां न भयं न लज्जा॥
दुर्ध्यानेन ततो भ्न्त्वा मलयाचलकानने।
शुकी भार्या शुकस्याहं द्वितीयतो भवेऽभवम्॥२०९॥
मयोक्तं प्रसवानेहा वर्त्तते कान्त! साम्प्रतम्।
तेन नीडं क्वचिद् वृक्षे क्रियते सुखहेतवे॥२१०॥
एवमुक्तोऽपि नो वक्ति सोऽलसो यावता भृशम्।
ततो मया कृतं नीडं यत्नतश्च शमीतरौ॥२११॥
तत्रावयोः क्रमाज्जातमपत्यद्वितयं वने।
आनीयाहं फलाद्यम्बु वर्द्धयामामिवान् तदा॥२१२॥
एकदोक्तं मया स्वामिन्! भक्ष्यं किञ्चित्समानय।
बहूक्तोऽप्यलसः सोऽपि जगाम नैव कुत्रचित्॥२१३॥
अत्रान्तरे वने वंशघर्षोत्पन्नविभावसुः।
दहन् वृक्षान् तृणादीनि नीडासन्नं समाययौ॥२१४॥

मया प्रोक्तमयं ज्वालाजटालो दहनोऽभितः।
आयात्यत्र ततोऽपत्यमेकैकं गृह्यते करे॥२१५॥
एवमुक्तोऽपि बहुशः स शुकोऽलसशेखरः।
मौनमाधाय नोत्तस्थौ तावत्तत्रागतोऽनलः॥२१६॥
उत्थाय स शुको दूरं दुष्टात्मा जग्मिवान् क्वचित्।
गृह्णानाऽहं करेऽपत्ये दग्धा तेन दवाग्निना॥२१७॥ यतः-
"किं करोति नरः प्राज्ञः प्रेर्यमाणः स्वकर्म्मभिः।
प्रायेण हि मनुष्याणां बुद्धिः कर्मानुसारिणी" ॥२१८॥
ततः पूर्वार्जितश्रेयः-प्रभावादिह सं(मद्)गतौ।
सालवाहनभूपस्य सुताऽभूवं सुकोमला॥२१९॥
श्रीयुगादिजिनागारे चित्रस्थं विशदं शुकम्।
यत्नतो मम पश्यन्त्या जातिस्मृतिरजायत॥२२०॥
ततः पूर्वभवान् सप्त जातिस्मृत्याऽवगम्य च।
जाताऽहं द्वेषिणी पुंसु साम्प्रतं विक्रमाङ्गने!॥२२१॥ यतः-

"सुख-दुःख-मद-द्वेषा-हंकार-सरलतादयः ।
सर्वं शिष्टमशिष्टं च जायते पूर्वकर्म्मतः" ॥२२२॥
विक्रमाऽवग् महाभागे ! सत्यमेतत्त्वयोदितम् ।
यो यस्मिन् कुरुते द्वेषं द्वेष्यस्तस्य स जायते ॥२२३॥

तत्र श्रवःसुखकरं विनिशम्य तस्याः,
गीतप्रपञ्चमखिलं नरनाथपुत्री ।
दृष्टा वितीर्य मणिमेकमनन्तमूल्यं,
सूर्योदये सपदि तां विससर्ज नारीम् ॥२२४॥

रत्नं विवाहसामग्रीसत्यंकारसहोदयम् ।
लात्वा दृष्टा निजे स्थाने विक्रमा समुपागमत् ॥२२५॥ यतः-
सेत्स्यमानं निजं कार्यं मानसेप्सितमञ्जसा ।
मोदते मनुजो वीक्ष्य मयूरौघ इवाम्बुदम् ॥२२६॥
पुरतो भट्टमात्राऽग्निवेतालयोः स्वचेष्टितम् ।
उक्त्वा च विक्रमः प्राह गम्यते साम्प्रतं वने ॥२२७॥

कृत्वा तत्रादनं वेश्यां मुत्कलाप्य च ते ततः ।
निर्गत्य बहिरुद्यानेऽश्वारूढा ययुरञ्जसा ॥२२८॥
गुटिकायाः प्रभावेन नरीभूतास्ततस्त्रयः ।
विक्रमार्कोऽग्निवेतालं प्रति प्राहेति रङ्गतः ॥२२९॥

अवन्त्यां घोटकान् पञ्च मुक्त्वा च द्वे पणाङ्गने ।
कमलापार्श्वतो दिव्यं शृङ्गारत्रयमानय ॥२३०॥ यतः-
रुचिराडम्बरात्कार्यं सर्वं सिद्ध्यति देहिनाम् ।
इत्युक्तो विक्रमार्केणाचालीद् वेतालकासुरः ॥२३१॥ यतः-
"सती पत्युः प्रभोः पत्तिः गुरोः शिष्यः पितुः सुतः ।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनो व्रतम् ॥"२३२॥

न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।
तेषां यो व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनम् ॥२३३॥
युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे ।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥२३४॥

तत्र मुक्त्वाऽग्निवेतालः पश्चाश्वान् द्वे पणाङ्गने ।
भृङ्गारत्रितयं दिव्यमानीयादात् महीपतेः ॥२३५॥
ततोऽवग् विक्रमादित्यः कृत्यं न मायया विना ।
सिद्ध्यतीति जिनाधीशमदने गम्यतेऽधुना ॥२३६॥
सालवाहनभूपालो जिनभक्तोऽस्ति सन्ततम् ।
तेन जिनाधिपस्याग्रे नृत्यं सद्यः करिष्यते ॥२३७॥
सालवाहनभूपालकारिते ऋषभप्रभोः ।
प्रासादे विक्रमार्कोऽगात् ताभ्यां युक्तो दिनात्यये ॥२३८॥
भूयसीं भक्तिगर्भेण गीतस्तुत्यादिना निशि
भावनां भावयामास विक्रमार्को भवच्छिदम् ॥२३९॥ यतः-
"दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम् ।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भवनाशिनी ॥२४०॥
सुप्त्वोत्थायोदये भानोः प्राहेति विक्रमार्यमा ।
सर्वज्ञपुरतो नृत्यं करिष्यामोऽधुना वयम् ॥२४१॥

यदा वामशयाङ्गुष्ठं चालयामि तदा द्रुतम् ।
गच्छेस्त्वमग्निवेताल ! कृत्वाऽऽवामंमयोश्च खे ॥२४२॥
वामहस्ताङ्गुलीसंज्ञां करिष्याम्यहमम्बरात् ।
तदोत्तीर्य विधातव्यं पुनर्नृत्यं जिनाग्रतः ॥२४३॥
एवमुक्त्वा त्रिभिर्नृत्यमर्हतोऽग्रे च मण्डितम् ।
यावत्तावत्समायातः पूजाकारोऽर्हतोऽर्चितुम् ॥२४४॥
देवरूपाधिकश्रीकान् तान् दृष्ट्वा नृत्यतत्परान् ।
दध्याविति तदा पूजाकारश्चित्ते चमत्कृतः ॥२४५॥
किमेते निर्जराः किं वा शिष्टा विद्याधराः पुनः ।
स्तोतुं जिनं च पातालकुमाराः किं समागताः ? ॥२४६॥
पूजाकारो नृपोपान्ते गत्वैवमूचिवान् द्रुतम् ।
राजन् ! अद्य जिनागारे दिव्यरूपास्त्रयः सुराः ॥२४७॥
कुर्वाणा नर्त्तनं सन्ति नानागीतादिभङ्गिभिः ।
विलोक्यतां द्रुतं तेन तत्र गत्वा महीपते ! ॥२४८॥

निशम्यैतन्महीपालः प्रहृष्टस्तान्निरीक्षितुम् ।
ययौ सारपरीवारो युगादिजिनमन्दिरे ॥२४९॥
यावत्पश्यति भूपालस्तावत्ते च त्रयः सुराः ।
उत्प्लुत्य पूर्वमङ्कतात् प्रययुः सुरवर्त्मनि ॥२५०॥
राजा प्रोवाच भो देवा ! अकृत्वा नर्त्तनं यदि ।
गमिष्यथ तदा हत्यां करिष्येऽहं निजात्मनः ॥२५१॥
भूपालयाचनात्तेऽपि समुत्तीर्य नभोऽङ्गणात् ।
चक्रुर्नृत्यं जगज्जन्तुचमत्कृतिकरं द्रुतम् ॥२५२॥
तादृशं नृत्यमालोक्य प्रोवाचेति महीपतिः ।
एकदा च सभामध्ये यूयं नृत्यं करिष्यथ ॥२५३॥
ततः सर्वत्र मे कीर्तिपूरः प्रसरति क्षितौ ।
सालवाहनभूपालसभायां ननृतुः सुराः ॥२५४॥ यतः-
"अधमा धनमिच्छन्ति धनमानौ च मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥२५५॥
देवदानवगन्धर्वमेदिनीपतिमानवाः ।
त्रैलोक्यव्यापिकां कीर्तिमिच्छन्ति धवलां सदा ॥२५६॥
के यूयमिति भूपोक्ते वयं विद्याधराः खगाः ।
जिनेन्द्रपुरतो नृत्यं कुर्मोऽन्यत्र न कर्हिचित् ॥२५७॥ यतः
"सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥२५८॥
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम् ।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥२५९॥
वीतरागं स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्वं तु निश्चितम् ॥२६०॥
येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणी यथा (णियथा)" ॥२६१॥
सालवाहनभूपोऽवग् लोकानां सन्ततेः पुरः ।
नृत्यं वः कुर्वतां दोषो लगिष्यति मनाग् नहि ॥२६२॥

यूयं देवधियाऽस्माकं पुरो नृत्यं करिष्यथ ।
तदा च भवतां दोषो लगिष्यति ननु स्फुटम् ॥२६३॥
ततो विक्रमविद्याभृत् प्राहेति भूपतेः पुरः ।
अस्माकं वनितारूपे दृष्टे प्राणान्ययो भवेत् ॥२६४॥
तेनेदं नहि वक्तव्यं साम्प्रतं भवता नृप ! ।
यदीच्छा स्यात्तदाऽत्रैव प्रातर्नृत्यं करिष्यते ॥२६५॥
भूपोऽवग् निखिला नारीः क्षेप्स्यामि गृहमध्यतः ।
तत्र नृत्यकृते यूयं श्राक् प्रसन्ना भविष्यथ ॥२६६॥
वादयित्वा ततो भूपः पटहं निखिले पुरे ।
स्थापयामास गेहान्तः सद्यः सर्वा मृगेक्षणाः ॥२६७॥
तथा कृते महीशेन नृत्यतस्तान् सुरान् पथि ।
नारीद्विपान्निशम्येति पप्रच्छ भूपभूः सखीम् ॥२६८॥
हे सखे (खि !) किं महीपालः कोष्ठागारे स्त्रियोऽखिलाः ।
क्षेपयामास के नृत्यं करिष्यन्ति सभान्तरे ॥२६९॥
सख्याहामी सुरा वामभ्रुवां रूपं मनागपि ।
न पश्यन्ति नृपास्थायां तैश्च नृत्यं करिष्यते ॥२७०॥
ततः प्रागवनीपालपुत्री पुंवेषधारिणी ।
नृत्यं द्रष्टुं द्रुतं गत्वा नृपास्थायामुपाविशत् ॥२७१॥
नृत्यन्तस्ते सुरा दिव्यरूपवेषादिधारिणः ।
सालवाहनभूपालयुतास्तत्रापयुः क्रमात् ॥२७२॥
चमत्कारकरं नृत्यं तैर्देवैर्विहितं तथा ।
यथा भूपादयो लोका जातास्तल्लीनमानसाः ॥२७३॥
भूपोऽवग् भोः ! सुरा ! किञ्चित युष्मान् प्रक्ष्याम्यहं मनाक् ।
यदि यूयं सहिष्यध्वे मदुक्तं कटु कर्णयोः ॥२७४॥
विद्याभृद् विक्रमः प्राह राजन् ! यद् रोचते तव ।
वक्षि तत्त्वं गताशङ्कः सहिष्येऽहं मुमुक्षुवत् ॥२७५॥
राजा प्रोवाच सर्वेषां देवानां सन्ति योषितः ।
भवतोऽभूत्कथं रोषः स्त्रीषु तज्जल्प कारणम् ॥२७६॥

विक्रमार्कः सुरः प्राह पापिष्ठा दुष्टचेतसः।
निर्लज्जाश्च दुराचारा निर्घृणाः सन्ति योषितः ॥२७७॥ यतः-

"सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥२७८॥

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
निःस्नेहनिर्दयत्वे च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः" ॥२७९॥
सालवाहनभूपालः प्राहैवं त्वं कथं वद।
विक्रमोऽवक् ततः स्पष्टमिति भूमीपतेः पुरः ॥२८०॥
सुकोमलोदितं सर्वं विक्रमार्को व्यतिक्रमात्।
जजल्पेति तदा सद्यो भूपतेः पुरतः स्फुटम् ॥२८१॥
इतश्च सप्तमे पूर्वं भवे लक्ष्मीपुरेऽनघे।
आसीच्छ्रेष्ठी धनो नाम्ना श्रीमती गृहिणी पुनः ॥२८२॥
तयोर्बभूव सत्स्वप्नसूचितो नन्दनोऽन्यदा।
कृत्वा जन्मोत्सवं चक्रे कर्मणेत्यभिधामहम् ॥२८३॥
व्यवसायं वितन्वानो बभूव धनवान् धनः।
अर्थिभ्यश्च ददौ दानं भूयिष्ठं धर्मतत्परः ॥२८४॥
धर्मपराङ्मुखा पत्नी श्रीमती मम दुष्टवाग्।
जल्पन्ती सततं यत्तत् मदुक्तं नाकरिष्यत ॥२८५॥
अर्थिभ्यो न ददौ दानं प्रेरिताऽपि मया प्रिया।
भुक्तं न सुन्दरं क्वापि पर्वण्यन्यत्र का कथा ॥२८६॥

इत्यादि सुकोमलोक्तां सप्तमभवकथां
विक्रमविद्याधरो व्यतिरेकेण जजल्प।

चम्पापुर्यां भवेऽभूवं षष्ठे च जितशत्रुराट्।
पश्चाह्वा गृहिणी तत्र प्रतिकूलाऽभवन्मम ॥२८७॥

अत्रापि षष्ठभवकथां व्यतिरेकेण
विक्रमविद्याधरो जगौ भूपतेः पुरः।

पञ्चमेऽपि भवेऽभूवं मृगोऽहं मलयाचले
मृगी पत्न्यभवत्तत्र प्रतिकूला सदा मम ॥२८८॥

अत्रापि मृगभवसम्बन्धिनीं सुकोमलोक्तां (कथां) विक्रमार्कविद्याधरो व्यतिरेकेण प्राह ।

[अत्रापि चतुर्थभवकथां देवभवसंबन्धिनीं सुकोमलोक्तां विक्रमार्को व्यतिरेकेण जगाद]

तृतीये देवशर्माह्वो द्विजः पद्मपुरेऽभवम् ।
मनोरमाऽभिधा तत्र प्रतिकूला प्रियाऽभवत् ॥२८९॥

अत्रापि तृतीयभवे द्विजसम्बन्धिनीं कथां सुकोमलोक्तां व्यतिरेकेण जजल्प ।

द्वितीये च भवे नूनं कीरो मलयपर्वते ।
तत्राप्यजनि मे पत्नी प्रतिकूला सदा शठा ॥२९०॥
मयोक्तं प्रसवानेहा वर्त्तते पत्नि ! तेऽधुना ।
तेन नीडं क्वचिद् वृक्षे क्रियते सुखहेतवे ॥२९१॥
एवमुक्ताऽपि नावादीत् साऽलमा यावता भृशम् ।
ततो मया कृतं नीडं यत्नतः शमीपादपे ॥२९२॥
तत्रावयोः क्रमाज्जातमपत्यद्वितयं च यत् ।
आनीयाहं फलाद्यम्बु वर्द्धयामामितांस्तदा[1] ॥२९३॥
एकदोक्तं मया पत्नि ! भक्ष्यं किञ्चिदिहानय ।
बहूक्ताऽप्यलमा मां[2] च नैवागात् कुत्रचित्तदा ॥२९४॥
अत्रान्तरे वने वंशघर्षोत्पन्नविभावसुः ।
दहन् वृक्षतृणादीनि नीडपार्श्वे समाययौ ॥२९५॥
मया प्रोक्तमयं ज्वालाजटालो[3] दहनोऽभितः ।
एष्यत्यत्र ततोऽपत्यमेकैकं गृह्यते करे ॥२९६॥
एवमुक्ताऽपि बहुशः सा शुक्यलसशेखरा ।
मौनमाधाय नोत्तस्थौ तावत्तत्रागतोऽनलः ॥२९७॥
उत्थाय सा शुकी दूरं ययौ पापा वने क्वचित् ।
गृह्णानोऽहं करेऽपत्ये दग्धस्तेन दवाग्निना ॥२९८॥ यतः—
"पूर्वभवार्जितश्रेयोऽश्रेयोभ्यां प्राणिनोऽखिलाः ।
लभन्ते सुखदुःखे च भ्रमन्तश्च चतुर्गतौ ॥२९९॥

१ वर्धयामाम तं तदा ख । २ साराव नै–क । ३ जटिलो क ।

शुक्लध्यानवशान्मृत्वा भूरिविद्याधरः परः।
जातोऽहं निर्जरस्तस्याः शुक्या न ज्ञायते गतिः ॥३००॥
एवं षट्सु भवेष्वात्मशक्त्या यात्राद्युपाकृतिः।
मया तस्याः कृता शश्वत् स्वभावेन कृतात्मना ॥३०१॥
तस्याः पूर्णीकृतास्तेषु भवेष्वपि मनोरथाः।
तया पापिष्ठयाऽकारि मदुक्तमेकशोऽपि न ॥३०२॥
श्रुत्वैतद् मुदिता स्वान्ते बाह्यं प्राहेति भूपसूः[1]।
त्वं दुरात्मा गतो नंष्ट्वाऽऽगते दावानलेऽलसः ॥३०३॥
अपत्यद्वयसंयुक्ता दग्धा तेन दवाग्निना।
मृत्वा चास्य महीशस्याभूवं पुत्री सुकोमला ॥३०४॥
देवः प्रोवाच मा कूटं जल्पेदानीं पुरो मम।
यद्यपत्यद्वयीयुक्ता दग्धा त्वं दववह्निना ॥३०५॥
तदाऽपत्यद्वयं मह्यं सद्यः सम्प्रति दर्शय।
नो हि चेद् दर्शयिष्यामि ते अपत्ये तवाधुना ॥३०६॥
दर्शयेति तया प्रोक्तो सुरः प्राह ममान्तिके।
पश्यापत्यद्वयं तच्च पूर्वमेतन्मया[2] सह ॥३०७॥
श्रुत्वैतद्वचनं तस्य दध्यावेवं सुकोमला।
विभङ्गं विद्यते ज्ञानं ममास्य सत्यमेव तु ॥३०८॥
तयोरेवं वचो युक्तियुक्तं श्रुत्वा तदा स्फुटम्।
भूपादयोऽखिला लोकाश्चित्ते चमत्कृता भृशम् ॥३०९॥
एवमुक्त्वा त्रयो देवा यावज्जग्मुर्नभोङ्गणे।
तावत्प्राहेति भूपालपुत्री स्पष्टं पितुः पुरः ॥३१०॥
यद्ययं मां सुरो नैव परिणेष्यति सम्प्रति।
तदैवाहं करिष्यामि सद्यो हत्यां निजात्मनः ॥३११॥
पुत्र्याः पुरुषविद्वेषिभावं त्यक्तं तदा नृपः।
निरीक्ष्य मुमुदेऽत्यन्तमुद्गतेन्दुमिवाम्बुधिः ॥३१२॥
मत्वा कदाग्रहं पुत्र्या भूपः प्राह सुरं प्रति।
भो देव! त्वमिमां पुत्रीं परिणीयाधुना व्रज ॥३१३॥

१ भूपभूः ख। २ तं म–क।

नो चेदहं कुटुम्बेन युक्तः सद्यस्तवोपरि ।
आत्महत्यां करिष्यामि मरिष्यति सुताऽपि च ॥३१४॥
देहि देवाधुना सद्योऽभयदानं कृपापरः ।
अस्माकं सचिवानां च पुत्र्याश्च जीवितं पुनः ॥३१५॥
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥३१६॥
श्रुत्वैतन्निर्जरो भूपस्त्रीहत्याभयतस्तदा ।
आत्मीयकार्यनिष्पत्तेर्भवनाच्च मुदं व्यधात् ॥३१७॥
भट्टमात्राग्निवेतालसंयुक्तो व्योममण्डलात् ।
उत्तीर्य प्राह गीर्वाणभाषया भूपतेः पुरः ॥३१८॥
अहं देवस्त्वियं नारी कथं योगो भवेद्वद ।
यतो हि विद्यते योगः सदृशेन शरीरिणाम् ॥३१९॥ यतः-
"ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥३२०॥
मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः ।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः, समानशीलव्यसनेषु योगः"॥
दृष्ट्वा भूपोऽवनिस्पृष्टपदद्वन्द्वं सुरं तदा ।
दध्याविति नरः कोऽपि कोऽपि विद्याधरोऽथवा ॥३२२॥
विद्यासिद्धोऽथवा मन्त्रतन्त्रसिद्धः समागतः ।
न विद्यतेऽमरो नेत्रमीलोन्मीलनतोऽत्र नु ॥३२३॥
"[1]अणिमिसनयणा मणकज्जसाहणा पुप्फदामअमिलाणा ।
चउरंगुलेण भूमिं न छुवंति सुरा जिणा बिंति ॥३२४॥
पंचसु जिणकल्लाणेसु महरिसितवाणुभावाओ ।
जंमंतरनेहेण य आगछंती सुरा इहयं" ॥३२५॥ इत्यादि ।
स्मृत्वैवं नृपतिस्तस्मै महामहपुरस्सरम् ।
दत्त्वा पुत्रीं ददौ सप्तभूमिकं धवलालयम् ॥३२६॥

---

१ अनिमिषनयना मनःकार्यसाधनाः पुष्पदामाम्लाना । चतुरङ्गुलेन भूमिं न स्पृशन्ति सुरा जिना ब्रुवते ॥
पञ्चसु जिनकल्याणेषु महर्षितपोऽनुभावात् । जन्मान्तरस्नेहेन चागच्छन्ति सुरा इह ॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्करणपरमगुरुगच्छनायकश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्यशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरिते सुकोमलापाणिग्रहस्वरूपो द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥

तृतीयः सर्गः ।

अथ श्रीविक्रमादित्यः कृतकृत्यः प्रमोदितः ।
भट्टमात्राग्निवेतालाना(वा)कार्येति जगौ रहः ॥१॥
मनसा चिन्तितं कार्यं सान्निध्याद् युवयोः क्रमात् ।
सिद्धिमागान्ममेदानीं दुःशकं मरुतामपि ॥२॥ यतः–
"सा सा सम्पद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना ।
सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥३॥
न स मन्त्रो न सा बुद्धिर्न स दोष्णां पराक्रमः ।
साध्यते नहि यः सारबुद्धिभिश्च भवादृशैः ॥४॥
श्रियमनुभवन्ति धीरा न भीरवः किमपि पश्य शस्त्रहतः ।
कर्णः स्वर्णालङ्कृतिर(म)ञ्जनरेखाङ्कितं चक्षुः" ॥५॥

ततो रहोऽग्निवेतालभट्टमात्रपुरो नृपः ।
प्राहेति पुरमान्मीयं कोऽप्यरातिर्हनिष्यति ॥६॥
तदा को रक्षिता नास्ति तस्यां पुर्यधुना ततः ।
भट्टमात्र! पुरीं पातुं भवान् गच्छतु वेगतः ॥७॥
अदृश्यस्त्वमग्निवेतालात्रस्थो देहि ममादनम् ।
यथा पत्न्यादयः सर्वे जानन्तीति जना हृदि ॥८॥
अयं देवोऽथवा विद्याधरो नहि पुनर्नरः ।
आवामपि गमिष्यावो जातेऽपत्ये द्रुतं पुरि ॥९॥
एवमुक्ते ययौ भट्टमात्रोऽवन्तीं पुरीं रयात् ।
विक्रमार्कोऽग्निवेतालसहितस्तत्र तस्थिवान् ॥१०॥

भुक्तं दत्त्वाऽग्निवेतालो यात्यदृश्यो रहः सदा।
सालवाहनभूपालः पप्रच्छ क्व गतौ सुरौ ॥११॥
विक्रमार्कः सुरः प्राह जग्मतुः क्रीडितुं क्वचित्।
भोक्तुमाकारितो भूमिभुजा प्राहेति विक्रमः ॥१२॥
अन्नाहारमहं नैव करोमि भूपते! कदा।
नृदत्तं फलपुष्पादिबलिं गृह्णामि सुन्दरम् ॥१३॥
दत्त्वा कर्पूरकस्तूरीचारुपुष्पफलं बलिम्।
जामाताऽयं जगद्वन्द्यो ध्यायन्नेवं नृपो ययौ ॥१४॥
दत्तेयं पुत्रिकेदृक्षवराय मयकाऽधुना।
भविष्यत्यग्रतो भाग्ययोगतः सुखिनी किल ॥१५॥ यतः—
"कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या"॥
कुलीनोऽयं वरो नूनं नृपो विद्याधरोऽथवा।
सदाकारलसज्जल्पगतिभ्यो ज्ञायते स्फुटम् ॥१७॥

केनाऽपि हेतुनाऽऽत्मीयं कुलनामादिकं स्फुटम्।
प्रकटीकुरुते सम्यग् वरो नायं मनागपि ॥१८॥
पत्न्या पृष्टोऽथ गीर्वाणो विक्रमार्को जगौ तथा।
ततः पत्न्यपि भूपाल इव दत्ते बलिं सदा ॥१९॥
मात्राऽन्येद्युः सुता पृष्टा जामाता किञ्च जेमति।
पुत्री प्राह सुरो नैवं जेमत्यन्नं नरैः कृतम् ॥२०॥
हृष्टा माता जगौ पुत्रि! धन्या त्वमसि साम्प्रतम्।
धर्मादेवंविधो लब्धो वरो दिव्यः सुते! त्वया ॥२१॥ यतः—
"धनदो धनमिच्छूनां कामदः काममिच्छताम्।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः" ॥२२॥
षण्मासान्ते प्रियां मत्वा सगर्भां विक्रमार्यमा।
जगौ रहोऽग्निवेतालं प्रति पत्न्या प्रप्रीणितः ॥२३॥
आदौ पाणिग्रहश्चक्रे क्रमात्तस्याः प्रपञ्चतः।
सगर्भा समभूत्पुण्यप्रभावाद् गृहिणी मम ॥२४॥ यतः—

"स्थाने निवासः सकलं कलत्रं, पुत्रः पवित्रः सुजनानुरागः।
न्यायाच्च वित्तं स्वहितं च चित्तं, निश्छद्मधर्मस्य सुखानि सप्त॥
विनाऽऽत्वां नगरी सर्वा दुःस्था सम्भाव्यतेऽधुना।
गम्यते स्वपुरे शीघ्रमावाभ्यां स्वःपुरोपमे ॥२६॥
सगर्वा गर्भिणी पत्नी ममात्यन्तं सुकोमला।
गर्वोच्छित्त्यै पुरेऽत्रैव मुच्यते राजनन्दिनी ॥२७॥ यतः—
[1]जाइ-कुल-रूव-बल-सुय-तव-लाभ-सिरीइ अट्ठमयमत्तो।
एआइं चिय बंधइ असुहाइं बहुं च संसारे" ॥२८॥
एवमस्त्वग्निवेतालेनोक्ते विक्रमभानुमान्।
लिलेखेत्यक्षरान् वाससद्मनो भारपट्टके" ॥२९॥
"अवन्तीनगरे गोपः परिणीय नृपाङ्गजाम्।
गां पातु दण्डभृत् पद्मोत्करक्रीडापरोऽनघः ॥३०॥
दृष्टे च पुरुषे द्वे (द्वि)ष्टां कुर्वतीं काष्ठभक्षणम्।
अहमेकोऽधुना वीरः परिणीय स्यादगाम्" ॥३१॥ (युग्मम्)

ततोऽदृश्यशरीराग्निवेतालांसस्थितोऽनिशम्।
कुर्वन् गतागतं व्योम्नि चिक्रीड विक्रमार्यमा ॥३२॥
तादृक्शक्तिं पतिं दिव्यरूपं दृष्ट्वा सुकोमला।
दध्यावेवमहं धन्या यस्याः स्यादीदृशः पतिः ॥३३॥
पश्यन्त्यां नृपनन्दिन्यां कुर्वन् क्रीडां नभोऽङ्गणे।
अदृश्यरूपवेतालस्कन्धस्थो विक्रमार्यमा ॥३४॥
श्रीयुगादिजिनं नत्वा सिद्धकार्यः प्रमोदितः।
प्रतिष्ठानपुरात्सद्यः प्रतस्थे स्वां पुरीं प्रति ॥३५॥ (युग्मम्)
स्थाने स्थाने गिरौ ग्रामे पुरे द्रङ्गे वने पुनः।
कौतुकानि नृपः पश्यन् गतोऽवन्त्यां कृतत्वरः ॥३६॥ यतः—
"प्राप्तशिल्पार्थविद्यानां देशान्तरनिवासिनाम्।
भवेदत्युत्सुकं चेतो गन्तुं सौवनिकेतने ॥३७॥
अग्निवेतालसान्निध्यात् विक्रमादित्यभूपतिः।
अङ्गीचक्रे निजं राज्यं स्वर्गस्येव सुरेश्वरः ॥३८॥

[1] जाति-कुल-रूप-बल-श्रुत-तपो-लाभ-श्रियाऽष्टमदमत्तः। एतान्येव बध्नात्यशुभानि बहु च संसारे॥

विक्रमार्कं समायान्तं भट्टमात्रोऽवगत्य च ।
मिलित्वेति जगौ हृष्टो भूपाग्रे रचिताञ्जलिः ॥३९॥
स्वामिंस्तव प्रसादेनात्रागतोऽहं पुरे ततः ।
अपालयं लसन्न्यायात् निखिला जनताः सदा ॥४०॥
परमेकोऽनिशं चौरो मुष्णन् सर्वं पुरं छलात् ।
ययौ क्वचिन्महेभ्यानां लात्वा कन्याचतुष्टयम् ॥४१॥
पश्यता सततं तस्य पदस्थानादिकं मया ।
न ज्ञातं तेन मे तावद् दुःखं चेतसि वर्त्तते ॥४२॥
"अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा ।
चिंतातुराणां न सुखं न निद्रा क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः ॥
आकर्ण्यैतन्नृपः प्राह भो अमात्य ! क्षणादपि ।
वधं तस्य करिष्यामि चौरस्यैव प्रपश्चतः ॥४३॥ यतः—
"उपायेन हि तत्कुर्यात् यन्न शक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः" ॥४४॥

"कस्मिंश्चिद्विपिने काक्यस्तूताण्डानि बहूनि च ।
तद्वृक्षविवरात् सर्प्पो निस्ससार निरन्तरम् ॥४५॥
अन्येद्युर्निष्कृपस्वान्तः काक्यपत्यानि भूरिशः ।
भक्षयित्वा ययौ सद्यो बिलमध्ये सरीसृपः ॥४६॥
काकी सर्वाण्यपत्यानि भक्षितानि ततोऽहिना ।
निरीक्ष्य कुरुते हन्तुमुपायान् भूरि शश्वतम् ॥४७॥
लब्धोपायाऽन्यदा काकी कस्यचिद्धनिनो गृहात् ।
लक्ष्यमूल्यं महाहारमानीय व्यमुचद् बिले ॥४८॥
विलोकयन् धनी हारं दृष्ट्वा बिलमुखे तदा ।
यावल्लातुं शयं दत्ते तावत्सोऽगादधो भुवि ॥४९॥
ततः कुद्दालमानीय खनित्वा तद्बिलं तदा ।
हत्वा भुजङ्गमं हारं जग्राह धनिको मुदा ॥५०॥
उपायेन तदा काकी मारयित्वा सरीसृपम् ।
आजन्म सुखिनी जाता स्वापत्यजीवनाद् भृशम्" ॥५१॥

एवं मन्त्रीश्वरान् स्वस्थीकृत्य सुप्तो नृपोऽन्यदा ।
भृत्यगाढस्वरोल्लापाज्जागरित्वेति जल्पति ॥५२॥
भो ! भो ! भृत्या ! अहं स्वप्नं लभमानो मनोहरम् ।
कथमुत्थापितो रात्रौ भवद्भिरविचारकैः ॥५३॥
तेनाहं च हरिष्यामि युष्माकमिह जीवितम् ।
राजा रुष्टो नृणां किं किं न दत्ते दुःखमङ्गिनाम् ॥५४॥
राजायत्ता मही सर्वा कर्मायत्ताश्च जन्तवः ।
भर्त्रायत्ता प्रिया धान्यं जलायत्तं च कथ्यते ॥५५॥
तावत्तत्रागता भट्टमात्रादिमन्त्रिणोऽखिलाः ।
प्रोचुरेवं किमारब्धं स्वामिन् ! सेवकमारणम् ॥५६॥
भूपः प्राह निशि स्वप्नं लभमानोऽद्य मञ्जुलम् ।
एभिर्जागरितास्तेन कोपोऽजनि ममाधुना ॥५७॥
प्रोक्तो मन्त्रीश्वरैस्तत्र भूमिपालो जगावदः ।
पूर्वाशाकानने कूपोऽगाधोऽस्ति जलपूरितः ॥५८॥

मध्येकूपं महानेको दृष्टः स्वप्ने सरीसृपः ।
दिव्यरूपा मुखे तस्य समस्त्येका च कन्यका ॥५९॥
भ्रमन्नहं गतो यावत् तत्र स्वप्नान्तरे निशि ।
तावत्सर्पो जगौ कन्यां लाहि त्वं मन्मुखादिमाम् ॥६०॥
यदि त्वं कातरस्तर्हि याहि दूरमतो द्रुतम् ।
श्रुत्वैतद् यावता कन्यां ग्रहीतुमुद्यतोऽभवम् ॥६१॥
तावदेभिरहं दुष्टैरस्मि जागरितः क्षणात् ।
मन्त्री जगावयं स्वप्नः सत्यः सम्भाव्यते स्फुटम् ॥६२॥यतः
"श्वेताम्बरधरा नारी श्वेतगन्धाऽवलेपना ।
अवगूहेत यं स्वप्ने तस्य श्रीः सर्वतोमुखी ॥६३॥
देवता गुरवो गावः पितरो लिङ्गिनो नराः ।
यद्वदन्ति नरं स्वप्ने तत्तथैव भविष्यति" ॥६४॥
कोऽपि विद्याधरो देवः किंनरो व्यन्तरोऽथवा ।
प्रसन्नीभूय भवते स्फुटं किमपि दास्यति ॥६५॥

तेन तत्रेत्य तां कन्यां त्वयादङ्गीकुरु प्रभो ।
यत एवंविधः स्वप्नो दुर्लभो देहिनामिह ॥६६॥
ततो मन्त्रियुतो भूपो यावत् तत्र ययौ क्षणात् ।
तावत्सर्प्पो जगौ यस्य माहसं विद्यतेऽनघम् ॥६७॥
स मदीयाननात्कन्यां गृह्णातु साम्प्रतं द्रुतम् ।
नो चेद् दूरमतः कूपाद् यातु कातरमानसः ॥६८॥ (युग्मम्)
श्रुत्वैतन्निर्भयो भूपो मध्येकूपं समेत्य च ।
जग्राह कन्यकां सर्प्पमुखाद् यावद् मनोहराम् ॥६९॥
तावत्सर्पो नरीभूय दिव्यदेहो जगावदः ।
वैताढ्यपर्वतशृङ्गे विद्यते श्रीपुरं पुरम् ॥७०॥
तत्राहमवसं विद्याधरो धीराभिधानतः ।
इयं ममाभवत्पुत्री दिव्यरूपा कलावती ॥७१॥
वर्द्धमाना क्रमाद् भूरिविद्यानामभवद् गृहम् ।
विलोकितोऽपि नो दृष्टो वरोऽस्याः सदृशः क्वचित् ॥७२॥
त्वां सात्त्विकाग्रणीं मत्वा भूपात्राहं समागमम् ।
तुभ्यं दातुं सुतां तेन मयैव त्वं परीक्षितः ॥७३॥
तेनेमां पुत्रिकां सद्यो गृहाण त्वं नरोत्तम ! ।
ततः श्रीविक्रमादित्यः परिणिन्ये च कन्यकाम् ॥७४॥
ततो भूमीपतिः कन्यां लात्वा स्वावासमीयिवान् ।
आपृच्छ्य च ययौ विद्याधरः स्थानं निजं द्रुतम् ॥७५॥
इतोऽन्येद्युर्निशीथिन्यां हृतां केन कलावतीम् ।
मत्वा श्यामाननो भूपः प्रगे चिन्ताऽऽतुरोऽजनि ॥७६॥
पृष्टोऽमात्यादिभिर्दुःखहेतुं भूपो जगाविति ।
केनाप्यद्य प्रिया रात्रौ हृता मम कलावती ॥७७॥
ततोऽमात्या जगुर्येन मुषिता नगरी निजा ।
तेनैव गृहिणी पुंसा हृता सम्भाव्यते तव ॥७८॥
विचार्य मन्त्रिभिः सार्द्धं प्रियां वालयितुं नृपः ।
चकारोपक्रमं भूरि लब्धा सा नाधुना क्वचित् ॥७९॥

ततो भूपतिरेकाकी खड्गपाणिर्निशामुखे ।
प्रियां वालयितुं स्तेनं ज्ञातुं च निर्ययौ रहः ॥८०॥ यतः–
"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुःकर्णस्तु धार्यते ।
द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माऽप्यन्तं न गच्छति" ॥८१॥

प्रजाः पालयितुं शश्वद् निग्रहीतुं च तस्करम् ।
स्थाने स्थाने नृपो रात्रावेकाकी निर्भयोऽभ्रमत् ॥८२॥ यतः–
"दुष्टस्य दण्डः स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥
इत्यादि

ततो देवकुले गत्वा भूपालेनानघैः स्तवैः ।
स्तुता चक्रेश्वरी देवी प्रादुर्भूय जगावदः ॥८४॥

भो भूपाद्य प्रसन्नाऽहमभूवं भक्तितस्तव ।
मार्गयेष्टं यतो देवदर्शनं सफलं भवेत् ॥८५॥ यतः–
"अमोघा वासरे विद्युत् अमोघं निशि गर्जितं ।
नारीबालवचोऽमोघममोघं देवदर्शनम् ॥८६॥
तुष्यन्ति भोजनैर्विप्रा मयूरा घनगर्जितैः ।
साधवः परसम्पत्त्या देवता भक्तितः पुनः ॥८७॥

भूपः प्रोवाच भो देवि ! हृता येन मम प्रिया ।
तस्य पुंसः स्वरूपं मे स्थितिं च कथयाधुना ॥८८॥

देवी प्राह पुरेऽत्राभूत् पुरा श्रेष्ठी धनेश्वरः ।
पत्नी प्रेमवती तस्याऽभवत्प्रीतिमती प्रिया ॥८९॥
गुणसाराभिधः पुत्रोऽभवच्चारुगुणालयः ।
तस्य रूपवती रूपजितदेवाङ्गना प्रिया ॥९०॥ यतः–
"सा मा सम्पद्यते बुद्धिः सा मतिः सा च भावना ।
सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ॥९१॥
स्थाने निवासः सकलं कलत्रं पुत्रः पवित्रः सुजनानुरागः ।
न्यायाच्च वित्तं स्वहितं च चित्तं निश्छद्मधर्मस्य सुखानि सप्त" ॥

गुणसारोऽन्यदा प्राह द्रव्यार्जनकृते स्फुटम् ।
लात्वा क्रयाणकं दूरदेशे यास्याम्यहं पितः ! ॥९३॥

श्रेष्ठी प्राह सूतं पुत्र ! देशान्तरगमेच्छया ।
मद्गृहेऽस्ति धनं भूरि तेन पूरय वाञ्छितम् ॥९४॥
देशान्तरोऽतिविषमो गन्तुं शक्योऽतिकर्कशैः ।
सुकुमारः कुमार ! त्वं मा कृथास्तद् वृथाऽऽग्रहम् ॥९५॥

यस्येन्द्रियाणि विद्यन्ते वश्यानि साहसं पुनः ।
वक्तुं यो वा विजानाति विदेशं यातु सोऽङ्गवान् ॥९६॥
अमुं कदाग्रहं मुञ्च स्वगृहं समलंकुरु ।
यतोऽस्माकं भवानेकः पुत्रो नेत्रप्रमोदकृत् ॥९७॥
एवमुक्तोऽप्यसौ युक्त्या न यदाऽत्यजदाग्रहम् ।
ततस्तातेन चलनं पुत्रस्य मानितं श्रियै ॥९८॥

ततो द्रविणमादाय भूरिक्रयाणकानि च ।
गुणसारोऽचलत्तातं मुत्कलाप्य शुभेऽहनि ॥९९॥
इतो धनेश्वरागारवृक्षस्थो व्यन्तरोऽधमः ।
वीक्ष्य रूपवतीरूपं मोहितोऽजनि तत्क्षणात् ॥१००॥ यतः–

"किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्यः,
त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत्सिषेवे ।
हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ॥१०१॥

देवा विसयपमत्ता नेरइया विविहदुःखसंपत्ता ।
तिरिया विवेगविगला मणुआणं धम्मसामग्गी ॥१०२॥
गुणसारसद्दग्रूपो व्यन्तरो भूरिद्रव्ययुक् ।
श्रेष्ठिपार्श्वे समागत्य तातेत्युक्त्वाऽकरोन्नतिम् ॥१०३॥
श्रेष्ठी प्राहाऽधुना कस्य पार्श्वे सर्वं क्रयाणकम् ।
मुक्त्वा किमर्थमागास्त्वं पश्चाज्जल्पेति नन्दन ! ॥१०४॥

गुणसारो जगावेको ज्ञानी मार्गेऽमिलन्मम ।
तेनोक्तं मरणं भावि विदेशं गच्छतस्तव ॥१०५॥
आकर्ण्यैतदहं सर्वं क्रयाणकसमुच्चयम् ।
विक्रीय द्रविणं सर्वमानैषमिह साम्प्रतम् ॥१०६॥

पिता प्राह वरं पुत्र! पश्चाद् यच्चं ममागमः।
यत एकः सुतस्त्वं मे कुलाधारो गुणाकरः ॥१०७॥
गुणसारश्छली गेहकृत्यं कुर्वन् सदाऽखिलम्।
मानसं रञ्जयामास जनकस्य भृशं क्रमात् ॥१०८॥
रूपवत्या समं नित्यं भोगाननुभवन् सुखम्।
प्रचुरं समयं तस्थौ गुणसारश्छली तदा ॥१०९॥ यतः—
"प्राकृत एव प्राप्ते द्रव्ये देर्दीप्यते न सत्पुरुषः।
वारिणि तैलं विकसति निर्मुक्तं स्त्यायते सर्पिः ॥११०॥
धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्य,
वर्षाम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः।
दैवादवाप्य ननु नीचजनः प्रतिष्ठां,
प्रायः स्वबन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥१११॥
इतः स्वल्पार्जितश्रीको गुणसारसुतोऽछली।
विदेशादेत्य तातान्ते तातेत्युक्त्वाऽकरोन्नतिम् ॥११२॥

दृष्ट्वा तं जनको दध्यौ किमयं स्यात्सुतो मम।
एकः पूर्वं ममोपान्ते विद्यते तनयोऽनघः ॥११३॥
श्रेष्ठी प्राह भवान् कस्य प्राघूर्णोऽत्र समागमत्।
स प्राहाहं भवन्सूनुरागमं दूरदेशतः ॥११४॥
इतश्छली सुतः प्राह रे! रे! पापिष्ठबालिश!।
मां त्वं छलयितुं ह्यत्र नगरे किमगा द्रुतम् ॥११५॥
एवं चेद्वक्षि भूयस्त्वं तदाऽनर्थो भविष्यति।
न ज्ञातं किं बलं मामकीनं वा न श्रुतं त्वया ॥११६॥
एवं द्वावपि सदृशाकारौ सदृक्प्रजल्पकौ।
सदृक्सङ्केतकथकौ सदृग्गमनकारकौ ॥११७॥
ततः श्रेष्ठ्यादयो शेषा लोका एवं जगुस्तदा।
विवादोऽत्र न केनापि पुंसा स्फेटयितुं क्षमः ॥११८॥
ततो भूमिपतेः पार्श्वे भवन्तौ द्वावपि द्रुतम्।
व्रजतां तत्र मन्त्रीशा भङ्क्ष्यन्ते भवतोः कलिम् ॥११९॥

ततो गत्वा नृपोपान्ते मिथस्ताविति जल्पतः।
अयं धनेश्वरस्तातो ममेदं सदनं पुनः ॥१२०॥
इयं कलावती भार्या मदीया गुणशालिनी।
रूप्यस्वर्णमणीपट्टकूलादिविभवः पुनः ॥१२१॥
गृह्णात्ययं छलं कृत्वा सर्वमेतन्न संशयम्।
श्रुत्वैतद् भूपतिस्तत्र संशये पतितस्तदा ॥१२२॥
परीक्षार्थं नृपः प्राहाकार्य मन्त्रीश्वरान् प्रति।
एतयोर्गृहसम्बन्धी विवादः पतितोऽधुना ॥१२३॥
भवन्तोऽद्यानयोर्वादं भञ्जन्तु बुद्धितो द्रुतम्।
भवादृशेष्वमात्येषु विवादो भाति नो मनाग् ॥१२४॥
प्राज्ञे नियोजितेऽमात्ये महीशस्य गुणत्रयम्।
यशः स्वर्गे निवासश्च पुष्कलश्च धनागमः ॥१२५॥
कुलशीलगुणोपेतं सत्यधर्म्मपरायणम्।
रूपिणं बुद्धिमन्तं च राजाऽध्यक्षं च कारयेत् ॥१२६॥

पप्रच्छुर्धीसखा यद् यत् तत् तत्तौ जल्पतः समम्।
एवं पुनः पुनः पृष्ट्वा विलक्षा अभवंश्च ते ॥१२७॥ यतः-
"बहुबुद्धिसमायुक्ता सविज्ञानबलोत्कटाः।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्त्ता ब्राह्मणादिव छागकम् ॥१२८॥तथाहि-
"यजमानाद् द्विजश्छागं याचित्वांऽसे विधाय च।
आयान् मार्गेऽन्यदा धूर्तैरेवं प्रोक्तः पृथक् पृथक् ॥१२९॥
आद्योऽवग् श्वा द्वितीयोऽवक् शशकोऽवक् तृतीयकः।
राक्षसोंऽसे कृतोऽनेन स्वं हन्तुं मूढचेतसा ॥१३०॥
श्रुत्वैतद्वाडवः स्कन्धादुत्तार्य छागमञ्जसा।
तथाऽमुञ्चद्यथा नंष्ट्वाऽगमच्छागो जिजीव च ॥१३१॥
इत एकागता तत्र पण्यस्त्रीति जगौ स्फुटम्।
त्यक्त्वाऽमात्यान् नरः स्त्री वाऽनयोर्भज्यात् कलिं यदि ॥१३२॥
तदा तस्य नृपो मानं रमादानात् करिष्यति।
न विना शेमुषीं शुद्धां कार्यं सिद्ध्यति कर्हिचित् ॥१३३॥

राजा प्राह न धीः कस्याऽधीनैवास्ति महीतले ।
यतः स्याच्छेमुषी हीनमध्योत्तमनृणामिह ॥१३४॥
लहुडां वडां ए किसिउं गुणवड्डां[1] संसारि ।
गागरि अच्छइ[2] बइठडी करवइ पिजइ[3] वारि ॥१३५॥
तेनानयोर्नरो नारी प्रभिन्द्याद् वादमञ्जसा ।
ततो वेश्या जगौ लोका ! मत्कृतं पश्यताखिलाः ॥१३६॥
कारयित्वा गृहं छिद्ररिक्तमेकं पुराङ्गना ।
तत्रैत्यावक् तदा तावाकार्य श्रेष्ठ्यङ्गजौ प्रति ॥१३७॥
दत्ते द्वारे द्वयोर्मध्ये यः कश्चित् सदनाद्रयात् ।
निःसृत्य मां स्पृशेत् श्रेष्ठिगेहेशः स भविष्यति ॥१३८॥
एवं कृत्वा च तौ तस्मिन् प्रविष्टौ यावता गृहे ।
तावता वेश्यया दत्तं दृढं द्वारं क्षणात्तदा ॥१३९॥
उक्तं च भवतोर्मध्ये यः कश्चित् श्रेष्ठिनः सुतः ।
निःसृत्य सद्मनो मध्यात् मत्करौ स्पृशतात् स वः ॥१४०॥

स एव मनुजः श्रेष्ठिगृहस्वामी भविष्यति ।
सरिष्यति च यो नैव तस्य दण्डः करिष्यते ॥१४१॥
एवमुक्ते च निःसृत्य व्यन्तरो गृहमध्यतः ।
चकार गणिकापाणिस्पर्शं हृष्टमनास्तदा ॥१४२॥
वेश्याऽवग् गुणसारोऽसि सत्यस्त्वं सात्त्विकाग्रणीः ।
तवैव जनको लक्ष्मीर्गेहं रूपवती प्रिया ॥१४३॥
श्रुत्वैतद् व्यन्तरो हृष्टोऽतीव पण्याङ्गनावचः ।
वेश्यया विहितं चिह्नं तस्य देहे तदा स्फुटम् ॥१४४॥
द्वितीयश्च न शक्नोति निःसर्तुं च गृहाद्यदा ।
तदा वेश्या जगावेष गुणसारश्छली स्फुटम् ॥१४५॥
एवमुक्त्वा तदादौ यो निःससार नरो गृहात् ।
तं निर्धाट्य द्रुतं गेहमध्यस्थस्यार्पितं गृहम् ॥१४६॥
व्यन्तरोत्पादितो गर्भो रूपवत्या इतः स्त्रियाः ।
अकस्माद् भयभीतायाः पपात वसुधातले ॥१४७॥

१ गुणवट्टु ख । २ इच्छइ क । ३ किजइ क ।

दध्यौ रूपवती गर्भादुद्ग्राहोऽत्र भविष्यति।
बहिःष्ठात् क्षिप्यते तेन यावज्जानाति कोऽपि न ॥१४८॥
ध्यात्वेति खर्प्परे क्षिप्त्वा तं गर्भं तत्क्षणात्तदा।
मुमोच बहिरुद्याने रहो रूपवती तदा ॥१४९॥
विमानं स्खलितं स्वीयं यान्तीतश्चण्डिकाऽम्बरे।
वीक्ष्य दध्यौ ममेदानीं यानं केन धृतं दृढम् ॥१५०॥
इतस्ततो विलोक्याधो यावत्पश्यति भूतलम्।
खर्प्परस्थगितं बालं तावद्ददर्श चण्डिका ॥१५१॥
शिशोरस्य प्रभावेण विमानं स्खलितं मम।
तेनायं बलवान् भावी ध्यात्वेति तमदात्करे ॥१५२॥
खर्प्परेत्यभिधां तस्य वितीर्य चण्डिका तदा।
स्वगुहायां तमानीय वर्द्धयामास पुत्रवत् ॥१५३॥
खर्प्परस्याष्टमे वर्षे जाते चण्डिकया तदा।
एतावन्तो वरा दत्ता दुर्ग्राह्या महतामपि ॥१५४॥

अस्यामेव गुहायां ते नूनं मृत्युर्भविष्यति।
गुहाबहिर्न कोऽपि त्वां हन्तुं देवोऽपि शक्ष्यति ॥१५५॥
असिनाऽनेन दुर्जयः सर्वेषां त्वं भविष्यसि।
मत्स्मृतेर्बहिरेव त्वमदृश्यविग्रहोऽपि च ॥१५६॥
गुहागतस्य ते देहरूपं दृश्यं भविष्यति।
एतान् प्राप्य वरान् सोऽपि बभ्राम निर्भयोऽभितः ॥१५७॥
चौर्यस्त्रीहरणादीनि कुर्वन् स शङ्कते नहि।
अखण्डितव्रता पत्नी गुहामध्येऽस्ति तेऽधुना ॥१५८॥
देवीप्रसादमासाद्य सुरङ्गादीनि भूरिशः।
तेन कृतानि चौरेण कृत्यानि हेलया भुवि ॥१५९॥
रूपं नवं नवं कृत्वा सेवकीभूय ते सदा।
कारं कारं पुरे स्तैन्यं स्तेनो याति निजं पदम् ॥१६०॥
तेन तस्य वधः कष्टात् भवता हि करिष्यते।
दुर्ग्राह्योऽस्ति सदा देवदानवानामपि स्फुटम् ॥१६१॥

यदि मिलितस्तस्यैव क्षमामेव करिष्यसि ।
तदा त्वं मृत्यवे तस्य गुहागस्य भविष्यसि ॥१६२॥
तेन त्वया बहिर्भूप कर्त्तव्या सततं क्षमा ।
यदि त्वां ज्ञास्यति स्तेनो दुःखं तव तदा ध्रुवम् ॥१६३॥
"क्षमा खड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥१६४॥
आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यते ॥१६५॥
यस्य हस्तौ च पादौ च जिह्वा च सुनियन्त्रिता ।
इन्द्रियाणि सुगुप्तानि रुष्टो दुष्टः करोति किम् ?" ॥१६६॥
श्रुत्वैतद्विक्रमादित्यो नत्वा देवीपदाम्बुजम् ।
रात्रावेव निजावासमलङ्कृत्य प्रसुप्तवान् ॥१६७॥ यतः—
सिद्धिं याते निजे कार्ये देवदानवभूमिपाः ।
मानवा अपि हृष्यन्ति दृष्टे चन्द्रे यथाऽम्बुधिः ॥१६८॥

प्रातरुत्थाय शयनादाकार्य सचिवान् जगौ ।
सिद्धं नो वाञ्छितं सर्वं ज्ञाता च द्विषतः स्थितिः ॥१६९॥
ततश्च निर्भयो राजा एकाक्यसिसखो निशि ।
जीर्णवस्त्रो भ्रमन् बाह्योद्यानदेवकुले ययौ ॥१७०॥
नत्वा चक्रेश्वरीं देवीं स्तुत्वोदारैः स्तवैः पुनः ।
जपन् पञ्चनमस्कारमुपविष्टोऽग्रतो नृपः ॥१७१॥
इतोऽवक् खर्प्परस्तेनः कन्यानामग्रतः स्फुटम् ।
अवन्तीशं छलात् हत्वा राज्यं लप्स्ये यदा ह्यहम् ॥१७२॥
भवन्तीनां महेभ्यानां पुत्रीणां स्फुरदुत्सवम् ।
पाणिग्रहं करिष्यामीत्येवमङ्गीकृतं मया ॥१७३॥ (युग्मम्)
ततश्च खर्प्परश्चौरः पुरं हन्तुं व्रजन् पथि ।
साधुमेकं स्थितं प्रेक्ष्य नत्वाऽप्राक्षीदिदं तदा ॥१७४॥
भो साधो ! विक्रमो मेऽद्य मिलिष्यत्यथवा नहि ।
साधुः प्रोवाच तं स्तेनं मिलिष्यत्येव विक्रमः ॥१७५॥

गत्वा चक्रेश्वरीगेहं दृष्ट्वा चैकं नरं स्थितम् ।
स्तेनोऽवक् कुत आगास्त्वं किंनामा किंकृते वद ॥१७६॥
आकारजल्पनाकालगमनादिकहेतुतः ।
ज्ञात्वा चौरं महीपालो दध्यावेवं तदा हृदि ॥१७७॥
आकार[1]: कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषितम् ।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ॥१७८॥
ध्यात्वेति तस्करं ज्ञात्वा जल्पनाकारतो नृपः ।
मलिम्लुचं छली सम्यग् ज्ञातुं प्राहेति तं प्रति ॥१७९॥
तिलङ्गविषयाद् दुःस्थो देशे वैदेशिको भ्रमन् ।
क्षुधितोऽत्राधुना श्रान्तिच्छिदेऽस्थामहकं निशि ॥१८०॥
दध्याविति ततश्चौर इमं वैदेशिकं नरम् ।
कृत्वा सखायमद्याहं करिष्ये स्वसमीहितम् ॥१८१॥ यतः–
"एको ध्यानमुभौ पाठं त्रिभिर्गीतं चतुः पथम् ।
पञ्च सप्त कृषिं कुर्यात् सङ्ग्रामं बहुभिर्जनैः" ॥१८२॥

चौरः प्राह मया सार्द्धं चल वैदेशिकाधुना ।
तुभ्यं दास्ये पुरीमध्ये गतोऽहं भोजनं द्रुतम् ॥१८३॥
कन्दोः प्राणप्रिया पूर्वं भगिनीति कृता मया ।
तत्रावयोः सुखेनैवादनं शीघ्रं भविष्यति ॥१८४॥
ततस्तेन युतः स्तेनो गत्वा कान्दविकालये ।
भोजनं दापयामास तस्मै वैदेशिकाय च ॥१८५॥
ततः कल्यगृहात्स्तेनो लात्वा मद्यघटद्वयम् ।
दण्डिकोभयतो बद्ध्वा न्यस्याचलत् तदंसयोः ॥१८६॥
तावत्सान्निध्यमाधातुं तस्य भूमीभुजोऽग्निकः ।
ममायातः स्मृतः सद्यः सान्निध्यं कुरुते रहः ॥१८७॥
अग्निकोऽवग् रहो वाञ्छा मद्यपानेऽस्ति मे नृप ! ।
विक्रमार्को जगौ तावकीनेच्छा पूरयिष्यते ॥१८८॥
विक्रमार्कश्चलन्मार्गे दस्योरग्रे जगाविदम् ।
मद्यकुम्भं पिबाम्येकमितीच्छा विद्यते मम ॥१८९॥

---

१ आचारः क । तदंशयोः क ख ।

आकर्ण्यैतज्जगौ स्तेनो रे ! रे ! निखिलभक्षक ! ।
तावन्मात्रेण भक्तेनोदरं नापूरि किं तव ॥१९०॥
भूयो भूयो वदत्येवं स्तेने विक्रमभानुमान् ।
पातुमेकं घटं यावल्ललौ हस्ते परोऽपतत् ॥१९१॥
मत्वा भग्नं घटं स्तेनस्तं हन्तुं यावताऽचलत् ।
तावदन्यं घटं क्षिप्त्वा विक्रमार्कः पलायितः ॥१९२॥
स्तेनं पृष्टौ(ष्ठे) समायान्तं दृष्ट्वा कृष्णद्विजालये ।
यावद् भूपो ययौ तावद् गौः प्रसूताऽभवत्सरुट् ॥१९३॥
गोघातभयतो भूपोऽचटत्पिप्पलपादपे ।
तावदूर्ध्वं समायातः कृष्णवर्णः सरीसृपः ॥१९४॥
तादृक्षां सुरभीं दृष्ट्वा स्तेनो बिभ्यद् गृहाद् बहिः ।
हन्तुं विक्रमभूपालं तस्थौ पश्यन्नितस्ततः ॥१९५॥
प्रबुद्धोऽथ द्विजो धेनुशब्दादेत्य बहिर्गृहात् ।

मृगस्य वामपार्श्वस्थं भौमं दृष्ट्वाऽम्बरे जगौ ॥१९६॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो पत्नि ! प्रदीपं कुरु वेगतः ।
पतितोऽस्ति नृपो दोषत्रये मृत्युसमेऽधुना ॥१९७॥
तच्छान्त्यर्थं द्रुतं होममन्त्रतन्त्रादिकां क्रियाम् ।
करिष्येऽहं ततो भूपः कुशली जायते चिरम् ॥१९८॥
"पञ्चतारा ग्रहा यत्र सोमं कुर्वन्ति दक्षिणे ।
भौमे च राजमारी स्यात् जनमारी च भार्गवे ॥१९९॥
बुधे रसक्षयं कुर्यात् गुरौ कुर्यात् तिगेदकम् ।
शनौ वर्षक्षयं कुर्यात् मासे मासे निरीक्षयेत् ॥२००॥
रोहिण्या यदि शकटेन चन्द्रो गच्छति पाटयन् ।
तदादुःस्थं विजानीयाद् क्रूरयुक्तो विशेषतः" ॥२०१॥
प्रिया प्राह पते ! चैत्रपुटीपाटीं महीपतिः ।
किं दास्यतीति जल्पन्ती यत्तत् प्रत्युत्तरं ददौ ॥२०२॥ यतः—

१ भूपो मण्डपस्तम्भमध्यतः । यावन्स्थितोगमत् तावत्० ग ।

[1] एकइं बोलिइं बोलती बालइ सओ भरतार।
कइ अकारण राखसी कइ पिसाचिन नारि ॥२०३॥
ततः स्वयं द्विजो दीपं कृत्वा होमादि चक्रवान्।
यावद् बबन्ध गां तावद् ननाश तस्करः क्वचित् ॥२०४॥
स्वस्थाने च द्विजः सुप्तः पश्चात्मर्प्पोऽपि जग्मिवान्।
ततो निःसृत्य भूपालः प्रययौ राजवर्त्मनि ॥२०५॥
दध्यौ भूमीपतिर्मौनं विना नैव कदाचन।
निग्रहं शक्यते कर्तुं चौरस्य बलिनोऽस्य हि ॥२०६॥
अतः परं मया तस्य मलिम्लुचस्य सन्ततम्।
कर्त्तव्यो विनयो येन हस्ते चटति तस्करः ॥२०७॥
किमसत्यं मुनेर्वाक्यमिति ध्यायति तस्करे।
मिलितो विक्रमो दस्योस्तेन चोक्तो जगाविदम् ॥२०८॥

[2] भो माम भवतः कान्दविक्या याम्याः सुतोऽस्म्यहम्।
मात्रा च कर्षितो रोपात् विक्रमाह्वोऽभ्रमं पुरे ॥२०९॥
चौरः प्रोवाच जामेय! गच्छ मार्द्धं मयाऽधुना।
ततस्त्वां सुखिनं स्वन्नपानदानात् करोम्यहम् ॥२१०॥
यावच्च कुर्वते पुत्रपुत्र्योऽपि कथितं लघु।
तावत्कुर्वन्ति सन्मानं जननीजनकादयः ॥२११॥ यतः–
"[3]माया निअगमइविगप्पिअंमि अत्थे अपूरमाणंमि।
पुत्तस्स कुणइ वसणं चुलणी जह बंभदत्तस्स ॥२१२॥
तावन्माता पिता तावत् तावत्स्वजनबान्धवाः।
यावत्परस्परं प्रीतिर्जायते देहिनामिह ॥२१३॥
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाऽभिमानः, स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः" ॥

१ एकइं बोलिइं बोल सउ बालइ मिउं भरतार। कइआ गरणह राखसी कइ राखमी न नारी ॥ **ख**।
२ भूप· प्राह भवन्कान्दविक्या याम्याः मुतोऽस्म्यहं। मात्रा च कर्षितो रोपाद् विक्रमार्कोऽभ्रमं पुरे ॥ **ग**।
३ माता निजकमतिविकल्पितेर्थेऽपूर्यमाणे। पुत्रस्य करोति व्यसनं चुलनी यथा ब्रह्मदत्तस्य ॥

दध्याविति पुनर्भूपस्तस्करोऽयं बली छलात् ।
देवीवरं समासाद्य मुष्णाति स्माखिलं पुरम् ॥२१५॥
ततोऽसौ तस्करो यद्यत् प्रतिकूलं करिष्यति ।
तत्तत्सर्वं सहिष्येऽहं साधुवत् साम्प्रतं स्फुटम् ॥२१६॥ यतः–

कष्टान्यसहमानानां गुणारोपः कुतो भवेत् ।
वेधबन्धं सहित्वैव धत्तो हेम श्रुती स्वयम् ॥२१७॥
भूपयुक्तो व्रजन् स्तेनो मार्गे नत्वा ऋषिं जगौ ।
भो यते ! यत्त्वया प्रोक्तं मिलितं तन्न साम्प्रतम् ॥२१८॥
ऋषिर्दध्यावहं वच्मि भूमिपालमिमं यदि ।
तदाऽनर्थो महान् भावी लोकानामनयोः पुनः ॥२१९॥

ऋषिः प्राह मया प्रोक्तमभिधानेन विक्रमः ।
मिलिष्यति पुनः सैष नाम्ना च मिलितस्तव ॥२२०॥
स्वस्थाने तस्करो गत्वा प्रोवाचेति नृपं प्रति ।
यावन्निष्पद्यते भक्तं तावत् त्वं तिष्ठ मण्डपे ॥२२१॥

तथाकृत्य जगौ गेहमध्ये शय्यास्थतस्करः ।
भो ! भो ! महेभ्यतनताः ! शृणुताद्य वचो मम ॥२२२॥
भागिनेयस्य सान्निध्यात् हत्वा विक्रमभूपतिम् ।
लात्वा राज्यं भवन्तीश्च परिणेष्येऽहमञ्जसा ॥२२३॥

मम गेहे सुवर्णस्य सन्ति सप्त च कोटयः ।
सपादलक्षमूल्यानि रत्नानि च दशायुतम् ॥२२४॥
दिव्यानां पट्टकूलानां विद्यते च शतत्रयम् ।
मुक्तानां मूटकद्वन्द्वं द्रव्यकोट्यश्चतुर्दश ॥२२५॥
आकर्ण्यैतज्जगौ हस्ते कृत्वाऽसिमिति भूपतिः ।
रे पापिष्ठ ! अधुना लाहि करवालं करे दृढम् ॥२२६॥

परस्त्रीहरणस्तैन्यादिकपापस्य तेऽधुना ।
शीर्षच्छेदादसिर्मेऽसौ प्रायश्चित्तं प्रदास्यति ॥२२७॥
इत्यादिहक्कितश्चौरोऽसिसखा यावदुत्थितः ।
तावद् युधे नृपस्तस्य सम्मुखं चलितः क्रुधा ॥२२८॥

चौरो दध्यौ पुमानेष मयैव मुग्धबुद्धिना ।
आनीतः सदने किं विदानीं हहा करिष्यति ॥२२९॥
गृहीतो दुःशको व्याघ्रो हस्ते क्रुधाऽरुणो मया ।
दत्ता कौतुचिका देहे मयका सुखहेतवे ॥२३०॥
राजा दध्यावयं चौरो विद्यते खर्परः खलु ।
प्रोक्तो देवतया पूर्वं यो मदग्रे बली भृशम् ॥२३१॥
वेलाऽस्ति साम्प्रतं हन्तुं तस्करं मे दुराशयम् ।
गुहाया निर्गतो देवदैत्यानां सोऽपि दुःशकः ॥२३२॥
यथा तथाऽधुना तेनोपायेन केनचित् द्रुतम् ।
हन्तव्योऽयं मयाऽत्रैव खर्परस्तस्कराग्रणीः ॥२३३॥
एवं परम्परं ध्यात्वा मेदिनीपतितस्करौ ।
रणाङ्गणे समायातौ युद्धं कर्तुं समुद्यतौ ॥२३४॥
क्षणं व्योम्नि क्षणं भूमौ गच्छन्तौ स्तेनभूपती ।
ददातेऽङ्गाङ्गयोर्बाढं प्रहारं निर्दयौ मिथः ॥२३५॥

चौरासिं स्वासिघातेन यावद् भूपो बभञ्ज श्राक् ।
तावत् तीक्ष्णासिमादायाययौ स्तेनो युधे गृहात् ॥२३६॥
कृतान्ततुल्यमायान्तं स्तेनमालोक्य भूभुजा ।
ध्यातमात्रोऽग्निवेतालः समायातो नृपान्तिके ॥२३७॥
"यस्यास्ति सुकृतं पूर्वकृतं भूरि शरीरिणः ।
स्मृतमात्राः सुरास्तस्य पार्श्वमायान्ति तत्क्षणात् ॥२३८॥
यावत् स्तेनोऽसिना हन्तुं भूपतिं धावितो रुषा ।
असिं हृत्वाऽग्निवेतालश्चौगद् भूमिभुजे ददौ ॥२३९॥
इतश्च भ्रुकुटीं कृत्वा तस्करोऽरुणलोचनः ।
क्रमाभ्यां कम्पयामास समन्ताद् मेदिनीतलम् ॥२४०॥
भूपः प्राहासिनाऽनेन भो ! भोः ! स्तेन ! तवाधुना ।
अवन्तीपुरराज्येच्छां पूरयिष्याम्यहं द्रुतम् ॥२४१॥
श्रुत्वेतत् तस्करो भीतो द्राग् गुहायामुपाविशत् ।
दध्यौ च हा ! मयाऽऽनीतो वधाय स्वस्य साम्प्रतम् ॥२४२॥

अथवा केनचित् पुंसा देवेन दानवेन वा ।
उक्तो मम वधोपायः पुरतोऽस्य दुरात्मनः ॥२४३॥
भूपः प्राहाग्निक ! स्तेनं संशोध्यात्रानयाचिराद् ।
यतोऽस्य दीयते शिक्षा दुष्टस्य खड्गघाततः ॥२४४॥
संशोध्य चाग्निवेनालः स्तेनं दर्यास्थितं रहः ।
बहिर्धृत्वा निनायाशु भूमिपालपुरः स्फुटम् ॥२४५॥
सम्यग् दृष्ट्वा च तं चौरं दध्यावेवं महीपतिः ।
अनेन मे कृता सेवा नानारूपविधानतः ॥२४६॥
विद्यन्तेऽत्र वणिक्पुत्राः पुरीमध्ये च भूरिशः ।
व्यववसायं वितन्वानाः तस्कग(र)स्यास्य राशिना ॥२४७॥
विक्रमः प्राह भोः स्तेन ! कुरु युद्धं मया सह ।
यतो हि जल्पिताः शूरा भवन्ति द्विगुणा द्रुतम् ॥२४८॥
एवमुत्साहितः स्तेनो वचनेन महीभुजा ।
उन्मूलिततरुं शस्त्रीकृत्वा हन्तुं प्रधावितः ॥२४९॥

जघान तस्करो यावत् तरुणा भूपमस्तकम् ।
लाघवाद् भूभुजा तावच्छिन्नं स्तेनशिरोऽसिना ॥२५०॥
श्रमन् ग्वर्परकस्तेनः खेदं तन्वँस्तदा हृदि ।
स्वस्थीकर्तुं द्रुतं प्रोक्त एवं विक्रमभानुना ॥२५१॥
अहमस्य पुरस्यैव स्वामी विक्रमभानुमान् ।
खेदस्त्वया न कर्तव्यः कुर्वता समरं मया ॥२५२॥
शूराः शूरैः समं युद्धं कुर्वन्तोऽपि रणाङ्गणे ।
हताः खेदं न कुर्वन्ति स्थितिरेवं महात्मनाम् ॥२५३॥
स्वस्थीकृतस्ततः सद्यो विक्रमार्कमहीभुजा ।
मृत्वा ग्वर्परकस्तेनः परलोकं समीयिवान् ॥२५४॥ यतः—

तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलम्,
तावत् सिध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः ।
मुद्रामंडल–मन्त्र–तन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषम्,
यावत्पुण्यमिदं नृणां विजयते पुण्यक्षये क्षीयते ॥२५५॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥
छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुराम्,
पर्यन्ताग्नि शिखाकलापजटिलाद् निर्गत्य दूरं वनाद् ।
व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः,
कूपान्तः पतितः करोति विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ॥२५७॥
कैवर्तकर्कशकरग्रहणाच्च्युतोऽपि
जाले पुनर्निपतितः शफरोऽविवेकी ।
जालाद् पुनर्विगलितो गलितो बकेन
वामे विधौ बत कुतो व्यसनान्निवृत्तिः" ॥२५८॥
परस्त्रीहरणस्तेन्यादिकं पापमनर्गलम् ।
कृत्वा चौरस्तदा श्वभ्रे जगामानन्तदुःखदे ॥२५९॥ यतः—
"एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते ।
स पुत्रपौत्रस्य पुनर् यावज्जीवं हृते धने ॥२६०॥

चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलम् ।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥२६१॥
दिवसे वा रजन्यां वा सुप्ते वा जागरेऽपि वा ।
सशल्य इव चौर्येण नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचिद् ॥२६२॥
मित्रपुत्रकलत्राणि पितरो भ्रातरोऽपि हि ।
संसजन्ति क्षणमपि म्लेच्छैरिव न तस्करैः" ॥२६३॥
हृष्टो भूपस्ततोऽशेषमिभ्यादिकजनं पुराद् ।
स्वस्वद्रविणकन्यादि वस्तु लातुमाकारयत् ॥२६४॥
महेभ्यादिजनाः सर्वे लात्वा वस्तु निजं निजम् ।
स्वस्वगृहे ययुः पूर्णीकृतसर्वमनोरथाः ॥२६५॥
चत्वारो धनिनोऽभ्येत्य श्रीदत्ताद्यास्तदा द्रुतम् ।
गृहीत्वा कन्यकां स्वां स्वां हृष्टा जग्मुर्निजं गृहम् ॥२६६॥
कृष्णद्विजन्मने चित्रपुत्र्याः पार्टी महिपतिः ।
दत्त्वा कलावतीं पत्नीं जग्राह तत्क्षणात्तदा ॥२६७॥

मन्त्रीशानीतमत्तेभारूढो विक्रमभूपतिः ।
भट्टमात्रादियुक् चारूत्सवं स्वावासमीयिवान् ॥२६८॥ यतः
"चञ्चच्चारणदीयमानकनकं संनद्धगीतध्वनि-
स्फूर्जद्गाथकलुप्यमानकरटिप्रारब्धनृत्योत्सवम् ।
पूर्णं मङ्गलतूर्यदुन्दुभिरवैरुत्तालवैतालिक-
श्लाघालङ्घितपूर्वपार्थिवमथ क्ष्माभर्तुरासीद् गृहम्" ॥२६९॥

ततः प्रभृति सर्वेऽपि मनुजाः सुखिनोऽभवन् ।
राजाऽपि न्यायमार्गेण पपाल रामवद् भुवम् ॥२७०॥
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥२७१॥

इति श्रीमत्तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्करणपरमगुरुगच्छनायकश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्यशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरिते खर्परचौरोत्पत्ति-निग्रहवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥

चतुर्थः सर्गः ।

इतः सुकोमला राज्ञी मत्वा कान्तं गतं तदा ।
रुदन्ती(दती) करुणं मात्रा पृष्टा तत्कारणं जगौ ॥१॥
ययौ देवोऽधुना मातर् ! मां मुक्त्वा तेन रोदिमि ।
माता प्राह सुरः क्रीडां कर्तुं यातो भविष्यति ॥२॥ यतः
"वापीकूपतटाकादिकाननेषु च कौतुकात् ।
दीव्यन्ति सततं तेन देवा इत्यभिधाऽभवत्" ॥३॥
रुदन्ती(दती) तनया पित्रा पृष्टा तद्वज्जगौ पुनः ।
ततः पुत्रीं स्थिरीकर्तुमूचतुः पितराविति ॥४॥
तनये ! ते पतिर्दूरं यातोऽपि च मिलिष्यति ।
नो चेत् तदा त्वमत्रस्था धर्मध्यानपरा भव ॥५॥ यतः-
"उपसर्गाः क्षयं यान्ति छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥६॥

पिता योगाभ्यासो विषयविरतिः सा च जननी
विवेकः सोदर्यः प्रतिदिनमनीहा च भगिनी ।
प्रिया क्षान्तिः पुत्रो विनय उपकारः प्रियसुहृत्
सहायो वैराग्यं गृहमुपशमो यस्य स सुखी" ॥७॥
गर्भं दत्त्वा गतः कान्तस्तेन खेदं कथं कुरु ।
यदि ते तनयः पूर्णमासे पुण्याद् भविष्यति ॥८॥
अर्पयिष्याम्यहं तस्मै देशं प्रौढं तदादरात् ।
भाविनी च सुता दास्ये तां तदाऽहं सुभूभुजे ॥९॥ यतः-
"कुलं च शीलं च सनाथता च विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणाः सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या ॥
आकर्ण्यैतन्महीपालपुत्री सुस्थितमानसा ।
धर्मध्यानपरा गर्भं पालयामास सद्विधि ॥११॥ यतः-

वातलैश्च भवेद् गर्भः कुब्जान्धजडवामनः ।
पित्तलैः खलतिः पिङ्गः श्वित्री पाण्डुः कफादिभिः" ॥१२॥
संपूर्णदोहदा पूर्णमासा शोभनवासरे ।
भूमिपालसुताऽसूत सुतं सूर्यमिवेन्द्रदिक् ॥१३॥
सन्मान्य सज्जनान् सर्वान् सदन्नपानदानतः ।
दौहित्रस्याभिधां देवकुमारेति व्यधान्नृपः ॥१४॥
धात्रीभिः पञ्चभिर्लाल्यमानं देवकुमारकम् ।
दृष्ट्वा सुकोमला लेखशालायोग्यं मुमोद च ॥१५॥ यतः-
"उत्पतन् निपतन् रिङ्खन् हसन् लालावलीर्वमन् ।
कस्याश्चिदेव धन्यायाः क्रोडमाक्रमते सुतः" ॥१६॥
अन्येद्युर्लेखशालायां पण्डितान्ते महीपतिः ।
कुर्वन् सदुत्सवं सद्यः पठनाय मुमोच च ॥१७॥ यतः-
"माता शत्रुः पिता वैरी बालो येन न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥१८॥
पितृभिस्ताडितः पुत्रः शिष्यश्च गुरुशिक्षितः ।
घनाहतं सुवर्णं च जायते जनमण्डनम्" ॥१९॥
पठन् सुकोमलासूनुः शश्वत् पण्डितसंनिधौ ।
निःशेषशस्त्रशास्त्रादिकलानामभवन्निधिः ॥२०॥
"जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः ॥२१॥
आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं विशेषः खलु मानवानां ज्ञानेन हीना पशवो मनुष्याः" ॥
अन्येद्युः कलहं कश्चित् कुर्वाणो लेखशालिकः ।
सार्धं देवकुमारेण प्राहेति परुषाक्षरम् ॥२३॥
रे ! रे अपितृक ! क्षान्तमद्ययावत् मया भृशम् ।
शालवाहनभूपालतनयातनयत्वतः ॥२४॥
अतः परं न सेहेऽहमपराधं मनाक् तव ।
ततो दध्याविदं सत्यमिति देवकुमारकः ॥२५॥

यदाऽस्थायामहं यामीति सभ्या मां तदा जगुः ।
नृपदौहित्रकागच्छ सुकोमलाङ्गज ! व्रज ॥२६॥
भूपतेरमुकस्यैहि पुत्र ! वक्तीति कोऽपि न ।
ध्यायन्नेव समेत्यावग् मातुरग्रेऽसितानन: ॥२७॥
भो ! मातस्त्वं कथं चारुघृडिकाऽऽभरणावलीम् ।
परिधत्से विना कान्तं ममाग्रे तद् वदाधुना ॥२८॥
तयोक्तं ते पिता देवरूपोऽस्माच्छयनात् यदा ।
व्योम्न्युत्थाय ययौ क्रीडन् ततो दृष्टो मया न मः ॥२९॥
देवा दीव्यन्ति मर्वत्र यतः कौतुकिताशयाः ।
तेन संभाव्यते नूनं जीवन्नस्ति क्वचित् पिता ॥३०॥
गते लोकेऽखिले स्वस्वस्थाने भूभुग्दुहितृकः ।
शून्यो भित्तिगवाक्षादिभारपट्टं विलोकते ॥३१॥ यतः–
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा ।
चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः ॥
शून्यचित्तं सुतं वीक्ष्य जगौ माता सुकोमला ।
कुरुष्व भोजनं चिन्तां मुञ्चमामधुना सुत ! ॥३३॥ यतः—
"चिन्तामिमां वहसि किं गजयूथनाथ !
योगीव योगविनिमीलितनेत्रयुग्मः ।
पिण्डं गृहाण पिब वारि यथोपनीतं,
दैवाद् भवन्ति विपदः खलु संपदो वा" ॥३४॥
पश्यन्नेवं पुनः सम्यक् चक्षुषा भारपट्टके
दृष्ट्वोत्थायाक्षराणीति वाचयामासिवांस्तदा ॥३५॥ तथाहि–
"अवन्तीनगरे गोपः परिणीय नृपाङ्गजाम् ।
गां पातुं दण्डभृत् पद्मोत्करक्रीडापरो ययौ ॥३६॥
दृष्टे च पुरुषे द्वेष्टां(ष्यां) कुर्वतीं काष्ठभक्षणम् ।
अहमेकोऽधुना वीरः परिणीय स्यादगाम्" ॥३७॥
अतो हृष्टं सुतं वीक्ष्याप्राक्षीद् मातेति नन्दनम् ।
हे ! पुत्र ! किं पितुः स्थानं त्वया ज्ञातं स वाऽऽगतः ॥३८॥

पुत्रः प्राह मया ज्ञातः पिता तव प्रसादतः ।
मात्रोक्तं विद्यते यत्र तत्स्थानं कथयाद्य मे ॥३९॥
पुत्रोऽवक् प्रथमं मातर् ! यत्रास्ति जनको मम ।
तत्र यास्याम्यहं तुभ्यं कथयिष्ये ततोऽचिरात् ॥४०॥
माता प्राह कथं तत्र सुरगम्ये त्वमेष्यसि ।
पुत्रः प्रोवाच तस्याहं पुत्रोऽस्मि तत्ममः खलु ॥४१॥
माता प्राह सुरो देवीवापीवनविमोहितः ।
गत्वा तत्र स्थितस्तेनात्रायाति न कदापि सः ॥४२॥ यतः-
"दिव्वालंकारविभूसणाइं रयणुज्जलाणि अ घराइं ।
रूवं भोगसमुदओ सुरलोगसमो कओ इहयं ॥४३॥
देवाण देवलोए जं सुखं तं नरो सुभणिओ वि ।
न भणइ वाससएण वि जस्स वि जीहासयं हुज्जा" ॥४४॥
हे पुत्र ! तत्र गत्वा त्वमपि स्थास्यसि पितृवत् ।
तदा ममात्र तिष्ठन्त्या गतिः कीदृग् भविष्यति ॥४५॥ यतः-
"एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ॥४६॥
एकेन वनवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा " ॥४७॥
नत्वा प्राह सुतो मातर् ! जीवन्नस्म्यहकं यदि ।
तदैवात्र समेत्य त्वां नेष्यामि तत्र शीघ्रतः ॥४८॥
माता प्रोवाच भो पुत्र ! सत्यमेतत्त्वयोदितम् ।
पुत्रास्त एव कथ्यन्ते पित्रोर्हितकराश्च ये ॥४९॥ उक्तं च-
प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥५०॥

१ दिव्यालंकारविभूषणानि रत्नोज्ज्वलानि च गृहाणि । रूपं भोगसमुदयः सुरलोकसमः कृत इह ॥
देवानां देवलोके यत्सुखं तन्नरः सुभणितोऽपि । न भणति वर्षशतेनापि यस्यापि जिह्वाशतं भवेत् ॥

दीपाः स्थितं वस्तु विभासयन्ति, कुलप्रदीपास्तु पुनर्नवीनाः ।
चिरं व्यतीतानपि पूर्वजान् ये, प्रकाशयन्ति स्वगुणप्रकर्षात्" ॥
सुकोमला जगौ पुत्र ! पशूनामपि जायते ।
स्नेहोऽपत्येषु सततं पुंसां भवति का कथा ॥५२॥ उक्तं च–
"आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गाद्
मां मुञ्च वागुरिक ! यामि कुरु प्रसादम् ।
अद्यापि शस्यकवलग्रहणानभिज्ञा
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः" ॥५३॥ हरिणीप्रोक्तम् ।
पुनर्हस्तिनोक्तम्—
"नो मन्ये दृढबन्धनं क्षतमिमं नैवाङ्कुशोद्घट्टनम्,
स्कन्धारोहणताडनान्परिभवं नैवान्यदेशान्तरम् ।
चिन्तां मे जनयन्ति चेतसि गुणाः स्मृत्वा स्वयूथं वने,
सिंहत्रासितजातभीतिकलभा यास्यन्ति कस्याश्रयम्" ॥
सुकोमला जगौ पुत्र ! गच्छ स्वच्छाशय द्रुतम् ।
स्मरणीया सदा चित्ते सततं भवताऽहकम् ॥५५॥
"मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज इति स्नेहेन हीनं वचः,
तिष्ठति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वेत्यप्युदासीनता ।
किं ते साम्प्रतमाचराम उचितं तत्सोपचारं वचः,
स्मर्तव्या वयमेव मित्र ! भवता यावत्पुनर्दर्शनम्" ॥५६॥
तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं ममागमः ।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं सुत ! ॥५७॥
"मातृपितृसमं तीर्थं विद्यते न जगत्त्रये ।
यतः प्राप्नोति सुलभो नृभवः शिवशर्मदः" ॥५८॥
ततो देवकुमारोऽवक् कार्यं दुःखं त्वया नहि ।
कृत्यं कृत्वा स्मरंस्त्वां चागमिष्याम्यचिरादिह ॥५९॥ यतः–
"जह[1] भद्दवए मासे भमरा समरंति चूअकुसुमाइं ।
तह भयवं मह हिअए समरइ तुम्हाण पयकमलम्" ॥६०॥

---

१ यथा भाद्रपदे मासे भ्रमराः स्मरन्ति चूतकुसुमानि । तथा भगवन् ! मम हृदयं स्मरति युष्माकं पदकमलम् ॥

इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीवाम्भोजिनीवल्लभं,
माकन्दं पिकसुन्दरीव तरुणी चान्मेश्वरं प्रोषितम्।
मेघं चातकमण्डलीव मधुपश्रेणीव पुष्पाकरम्,
चेतोवृत्तिरियं ममाम्ब! सततं त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते ॥६१॥
लब्ध्वाऽथ मातुरादेशं प्रणम्य जननीं पुनः।
मिलनाय पितुश्चक्रेऽसौ कुमार उपक्रमम् ॥६२॥
जननीविरहं तत्रासहिष्णुर्विक्रमार्कजः।
कष्टेन चलितो मुञ्चन्नश्रूणि नगरात्ततः ॥६३॥ यतः—
"[1]जणणी जम्मभूमी पच्छिमनिद्दा सुभासिआ गुट्ठी।
मणइट्ठं माणुस्सं पंचवि दुक्खेण मुचंति" ॥६४॥
प्रतिष्ठानपुराद्देवकुमारः प्रस्थितो रहः।
मिलनाय पितुः स्थानं ज्ञातुं खड्गसखा क्रमात् ॥६५॥
पश्यन् पदे पदेऽनेकपुरग्रामसरिद्गिरीन्।
अवन्तीसन्निधिं प्राप्तो दध्यौ देवकुमारकः ॥६६॥

मम यो मातरं मुक्त्वाऽत्रस्थो राज्यरतोऽभवत्।
अप्रकाश्यात्मनः शौर्यं कथं तस्य मिलाम्यहम् ॥६७॥
यो जातस्तनयो नैव स्वचरित्रेण शालिना।
दत्ते मुदं पितुस्तेन जातेन सुनुना च किम् ॥६८॥
विना वेश्यागृहं नैव कार्यं सिध्यति कस्यचित्।
तेनैव स्थीयते कस्याश्चित् पण्ययोषितो गृहे ॥६९॥ यतः—
"विनयं राजपुत्रेभ्यः पण्डितेभ्यः सुभाषितम्।
अनृतं द्यूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षेत कैतवम् ॥७०॥
नयणिहिं रोअइ मणि हसइ जण जाणइ सहु सच्च।
वेस विसट्ठइ तं करइ जं कट्ठह करवत्त" ॥७१॥
ध्यात्वेति मुख्यवेश्याया गृहे देवः समीयिवान्।
तया पृष्टं कुतः स्थानात् कस्त्वं किमर्थमागतः ॥७२॥
देवः प्राहास्म्यहं चौरो वेश्ये! सर्वहराभिधः।
यतो मया धनं भूरि ह्रियते भूपरैमताम् ॥७३॥

१ जननी जन्मभूमिः पश्चिमनिद्रा सुभाषिता गोष्ठिः। मनइष्टो मनुष्यः पञ्चापि दुःखेन मुच्यन्ते ॥

तयोक्तमहमात्मीयगृहे दास्ये न ते स्थितिम् ।
ज्ञात्वा तत्र स्थितिं राजा सर्वं हरति सद्धनम् ॥७४॥ यतः–
"चौरश्चोरापको मन्त्री भेददः क्रयविक्रयी ।
अन्नदः स्थानदश्चैव चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥७५॥
वणिक् पण्याङ्गना दस्युर्हतहृत् पारदारिकः ।
द्वारावलम्बिकः कौलः सप्तासत्यस्य मन्दिरम् ॥७६॥
संबन्ध्यपि निगृह्येत चौर्यान्मंडिकवन्नृपैः ।
चौरोऽपि त्यक्तचौर्यः स्यात् स्वर्गभाग् रौहिणेयवत् ॥७७॥
त्यक्त्वा तस्या गृहं देवकुमारो धीधनस्ततः ।
वेश्याया मदनेऽन्यस्याः स्थातुं शीघ्रं समागमत् ॥७८॥
तत्रापि पूर्ववत्पण्याङ्गनया जल्पितः पुनः ।
वेश्याया मदनेऽन्यस्याः स्थानं कर्तुं समागमत् ॥७९॥
पूर्ववत् मार्गिते स्थाने तेन वेश्या जगावदः ।
विषमा शोभते नैव गोष्ठी पुंसोर्मनागपि ॥८०॥ यतः—
अकालचर्या विषमा च गोष्ठी कुमित्रसेवा न कदाऽपि कार्या ।
पश्याण्डजं पद्मवने प्रसुप्तं धनुर्विमुक्तेन शरेण ताडितम्" ॥
एवं गत्वा भ्रमन् भूरिवेश्यानां सदने क्रमात् ।
न प्राप स्थानकं देवकुमारः क्षणमेककम् ॥८२॥
ततो भ्रमन् पुरान्तःस्थ–कालीवेश्यागृहे ययौ ।
तया पृष्टो जगौ देवकुमारः पूर्ववत् तदा ॥८३॥
वेश्या दध्यौ न मद्गृहे आयास्यन्ति धनेश्वराः ।
एवंविधनराणां च स्थितिर्भवति शोभना ॥८४॥
विमृश्येति तया तत्र स्थापितस्तस्करः सुखम् ।
दिनद्वयं गतं तेन नानीतं द्रविणं मनाग् ॥८५॥
वेश्या प्रोवाच कोऽप्यत्र विना द्रव्यं न तिष्ठति ।
द्रव्यं तेनानयाह्वाय नो चेद् गच्छाधुनाऽन्यतः ॥८६॥ यतः–

१ चौर. स्थापकमन्त्री च भेददः ग।

"संगह(हि)यसयलअत्थं गहिऊणं वंछए मुक्खं ।
परलोए देइ दिट्ठी(ट्ठिं) मुणिव्व वेसा सुहं देइ" ॥८७॥
चौरोऽप्राक्षीदयं कस्यावासो वर्यो निगद्यताम् ।
वेश्याऽवक् स्वपिति क्ष्मापः स श्रीविक्रमभानुमान् ॥८८॥
अस्याभ्रंलिहगेहस्य सप्तम्यां भुवि सर्वदा ।
स्वपिति क्ष्मापतिर्न्यायमार्गेण पालयन्महीम् ॥८९॥ (युग्मम्)
भट्टमात्रस्य सदनं व्योमव्यापि मनोहरम् ।
भूपालालयवामांगभागे त्वं च विलोकय ॥९०॥
ततः स्तेनो जगौ द्रष्टुं गमिष्यामि पुरीमहं ।
यदा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झंपकम् ॥९१॥
भवत्यैत्य तदा शीघ्रमुद्घाट्यो झंपकः शनैः ।
ओमित्युक्ते तया स्तेनो निस्ससार गृहान्मुदा ॥९२॥ यतः—
"सीह सऊण न चंदबल नवि जोइ धण रिद्धि ।
एकल्लऊ लक्खिहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥९३॥

इतः प्राहाग्निवेतालः पुरस्तादिति भूपतेः ।
देवद्वीपे करिष्यन्ति नृत्यं देवा मनोहरम् ॥९४॥
तेनाहं तत्र यास्यामि देह्यादेशं ममाधुना ।
मासद्वयमहं तत्र स्थास्यामि तत्कृते नृप ! ॥९५॥
यादृशे तादृशे कार्ये स्मर्तव्योऽहं न च त्वया ।
भूपोऽवग् गच्छ वेताल ! कुरु कार्यं समीहितम् ॥९६॥
एवमुक्ते ययावग्निवेतालस्तत्क्षणात्तदा।
देवद्वीपे महाश्चर्यकृन्नृत्यमीक्षितुं स्फुटम् ॥९७॥
गत्वा चंडीगृहे स्तेनो नत्वा देवीमिदं जगौ ।
देवि ! त्वं सर्वलोकानां दत्से सततमीप्सितम् ॥९८॥
विद्ये सर्वत्र विजयादृश्यीकाराभिधे उभे ।
देवि ! देहि प्रसद्य त्वं मह्यं संप्रति सादरम् ॥९९॥
न चेदहं करिष्यामि मस्तकेनार्चनां तव ।
एवमुक्ताऽपि नो यावन् मनाग् जल्पति चण्डिका ॥१००॥

१ संगृहीतसकलार्थं गृहीत्वा वाञ्छति मोक्षम् । परलोके ददाति दृष्टिं मुनिरिव वेश्या सुखं ददाति ॥

तावत्स्तनोऽसिना सद्यश्छेत्तुं शीर्षं समुद्यतः ।
ततो धृत्वा शये चण्डी तं प्रसन्ना जगावदः ॥१०१॥
भो भोः सात्त्विक कोटीर हीर वीर मलिम्लुच ! ।
दत्ते विद्ये उभे तुभ्यं मया मुञ्चाग्रहं व्रज ॥१०२॥ यतः—
"सदाचारस्य धीरस्य धर्मतो दीर्घदर्शिनः ।
न्यायप्रवृत्तस्य सतः सन्तु वा यान्तु वा श्रियः ॥१०३॥
नोपकारं विना प्रीतिः कथंचित् कस्यचिद् भवेत् ।
उपयाचितदानेन यतो देवोऽपि चेष्टदः" ॥१०४॥
प्राप्तविद्यस्ततो देव्याः स्तेनो निर्भयमानमः ।
एकाकी सत्त्ववान् पुर्यां भ्रमति स्माखिलं दिनम् ॥१०५॥
समीहते तदा यद्यत् कार्यं कर्तुं मलिम्लुचः ।
सिध्यते(ति) हेलया तत् तत् तस्य प्राच्यवृषोदयात् ॥१०६॥
यतः–"एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते ॥१०७॥

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः,
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि ।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥१०८॥
विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधिः,
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्याजौ रामः सकलमवधीद् राक्षसकुलम्,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे" ॥१०९॥
प्राप्तदेवीप्रसादः स स्तेनो नीत्वाऽखिलं दिनम् ।
रजन्यामदृश्यीभूय पत्तीनां पश्यतां व्रजन् ॥११०॥
भूपालशयनावासपार्श्वे गत्वेत्यचिन्तयत् ।
अविधाय चमत्कारं न मिलिष्याम्यहं पितुः ॥१११॥ यतः–
"आडम्बराणि पूज्यन्ते नतु ज्ञातेयडम्बरः ।
वानेयं गृह्यते पुष्पमङ्गजस्त्यज्यते मलः" ॥११२॥

विचिन्त्येति महीपालपार्श्वे गत्वा मलिम्लुचः ।
मुखं प्रेक्ष्य प्रसुप्तस्य पितुश्चाभूत् प्रमोदितः ॥११३॥
मातापित्रोः पदाम्भोजं ननाम भक्तिपूर्वकम् ।
निजं दर्शयितुं शौर्यं चमत्कारकृते पुनः ॥११४॥
अष्टाविंशतिकोटयुद्यत्स्वर्णमूल्यैर्विभूषणैः ।
पूर्णां पेटीं महीपालराज्योर्मलिम्लुचो रहः ॥११५॥
प्रविश्य शयनस्याधो गृहीत्वा यत्नतस्तदा ।
अदृश्यविग्रहः पश्चात् वेश्याझम्पकमीयिवान् ॥११६॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)
पूर्वं विहितसङ्केतवेश्योद्घाटितझम्पकः ।
विभूषणानि वेश्यायै दर्शयामास तस्करः ॥११७॥
कस्यैतानीति वेश्योक्ते स प्राह भूप-भार्ययोः ।
वेश्या दध्यावयं सत्यस्तस्करः पश्यतोहरः ॥११८॥

भूषणानि महीपालपत्न्योः सद्यो जहार यः ।
तस्यान्येषां नृणां द्रव्यापहारे का कथा भवेत् ॥११९॥
चौरोऽवग् गणिके ! पेटाभूषणैर्भरिताऽनघा ।
रक्षणीया त्वयेदानीं यत्नतः स्वशरीरवत् ॥१२०॥
अतः परमहं यद्यद् आनेष्यामि पुरान्तरात् ।
तदशेषं त्वया ग्राह्यं श्रुत्वैतन्मुदिता च सा ॥१२१॥ यतः-
"[1]जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासकणयकज्जं कोडीए वि न निट्ठिअं ॥१२२॥
महीयसाऽपि लाभेन लोभो न परिभूयते ।
मात्रा समधिकः कुत्र मात्राहीनेन जीयते ॥१२३॥
आशैव राक्षसी पुंसामाशैव विषमञ्जरी ।
आशैव जीर्णमदिरा धिगाशा सर्वदोषभूः ॥१२४॥
शरीरं श्लथते नाशा रूपं याति न पापधीः ।
जरा स्फुरति न ज्ञानं धिक् स्वरूपं शरीरिणाम्" ॥१२५॥

१ यथा लाभस्तथा लोभो लाभाद् लोभः प्रवर्धते। द्विमाषकनककार्यं कोट्यापि न निष्ठितम् ॥

रसवत्यादिना स्तेनो वेश्यया प्रीणितो भृशम् ।
गृहमध्यस्थितो धर्मध्यानलीनोऽभवत्तदा ॥१२६॥
इतः प्रातः समुत्थाय शय्याया मेदिनीपतिः ।
परिधातुमना यावद् भूषणानि विलोकते ॥१२७॥
तावत्पेटां नृपोऽपश्यन् प्राह पेटाऽस्ति क्व प्रिये ! ।
राज्ञी प्रोवाच शय्याऽधो मुक्ता स्वामिन् ! मया निशि ॥१२८॥
राजा प्राह त्वयाऽन्यत्र मुक्ता संभाव्यते प्रिये ! ।
प्रिया जगौ मयाऽत्रैव मुक्ता पेटाऽथ सा तदा ॥१२९॥
राजाऽवगीदृशे स्थाने विषमे कोऽपि तस्करः ।
प्रविश्य रजनौ पेटां लात्वा नूनं ययौ प्रिये ! ॥१३०॥
कश्चिदेवंविधे स्थाने यद्येति विषमे रहः ।
मारयिष्यति मां चेत् स तदा भवति का गतिः ॥१३१॥ यतः-
"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताकाङ्क्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥१३२॥
जीवो जीवितलाभेन मार्यमाणोऽपि निर्दयैः ।
राज्यसौख्यमपि प्राज्यं न वाञ्छति कदाचन" ॥१३३॥
द्रष्टुं पदानि पदिका भूभुजाऽऽकारिता जगुः ।
विलोकिताऽपि तैः सम्यग् न ज्ञाता पदपद्धतिः ॥१३४॥
भूपो जगौ तलारक्षा ! यूयं किं क्व गता निशि ।
अथवा यत्नतो गेहं भवन्तो रक्षन्ति न मे ॥१३५॥
ते प्राहुर्यत्नतः स्वामिन् ! गतनिद्रा वयं निशि ।
रक्षाम भवतो गेहं भ्रमन्तः सर्वतो भृशम् ॥१३६॥
ततो राजा सभाऽऽसीनो भट्टमात्यादिधीसखान् ।
आकार्य निशि वृत्तान्तं सर्वमुक्त्वा जगौ पुनः ॥१३७॥
चौरो नैवंविधे स्थाने भूषणार्थं समाययौ ।
किं त्वयं ज्ञापयत्येवं मम सम्प्रति सात्त्विकः ॥१३८॥
अहमस्मि स्फुरद्विद्यासिद्धो विद्याधराग्रणीः ।
अदृश्यीकरणप्रौढमन्त्राऽदृश्यवपुर्नरः ॥१३९॥

यः कश्चिद् भवतो राज्ये विद्यते कोविदोत्तमः।
स एवं विधिना सद्यः प्रकटीकुरुतात् खलु ॥१४०॥
अथाऽहं भवतः पेटां भूषणैर्भरितां भृशम्।
लात्वा गतोऽस्मि विघ्नं ते करिष्यामि प्रगे पुनः ॥१४१॥

तेनेदं ज्ञायते नूनं स एव सात्त्विकाग्रणीः।
त्याजयित्वा च मां राज्यात् ग्रहीष्यत्यचिरात् श्रियम् ॥१४२॥
दुःसाध्यः खर्परश्चौरो निगृहीतो मया पुरा।
एवंविधोऽधुना दुष्टोऽभवत्स्वौकःप्रवेशनात् ॥१४३॥
प्रविश्य धनिनां गेहे रहो रात्रौ च तस्करः।
अयं खर्परवल्लक्ष्मीं हरिष्यति न संशयः ॥१४४॥

विचार्येति नृपो हस्ते विधाय बीटकं जगौ।
यः कर्षिष्यति तं चौरं स मान्यते रमया मया ॥१४५॥
तादृग्भूपालसदने प्रवेशात् तस्करं तदा।
विज्ञाय बलिनं कोऽपि गृह्णाति बीटकं नहि ॥१४६॥

मतिसारस्ततो मन्त्री प्राहेति सुभटान् प्रति।
यो राज्ञः कुरुते कार्यं स सत्यः सेवको भवेत् ॥१४७॥
"युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे।
प्रभोर्द्वाराश्रितो गेहे स भवेत् राजवल्लभः ॥१४८॥

चित्तज्ञः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।
यथोक्तजल्पको भूपभक्तो भृत्यः प्रशस्यते ॥१४९॥
न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥१५०॥
राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति।
तेऽपि सन्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते" ॥१५१॥

आकर्ण्यैतद् वचो मन्त्रिप्रोक्तं सिंहस्तलारकः।
ग्रहीतुं बीटकं सद्य उत्तस्थौ भूपतेः पुरः ॥१५२॥
तलारो बीटकं लात्वा प्रोवाचेति दिनत्रये।
चौरं स्वस्वामिनः पार्श्वे आनेष्यामि प्रपश्यतः ॥१५३॥

नो हि चेत् स्वामिना चौरदण्डः कार्यो ममाचिरात् ।
एवं कृत्वा तलारक्षः प्रतिज्ञां चलितस्ततः ॥१५४॥
द्विकत्रिकचतुःस्थाने पाटके पाटकेऽभितः ।
स्तेनं धर्तुं तलारक्षो मुमोच सुभटान् निजान् ॥१५५॥
तलारक्षश्चतुरशीतिहट्टश्रेणिषु सर्वतः ।
तृतीयदिवसस्यान्ते पूर्वद्वारि ययौ भ्रमन् ॥१५६॥
इतः पणाङ्गना पृष्टा स्तेनेनेति जगौ स्फुटम् ।
प्रतिज्ञामकरोत् स्तेनं धर्तुमद्य तलारकः ॥१५७॥
भ्रामं भ्रामं तलारोऽत्र चेदेष्यति कदाचन ।
तदा गतिर्भवेत्का मे तव च ब्रूहि तस्कर ! ॥१५८॥
आदौ च यत् त्वया चौर्यं विहितं राजवेश्मनि ।
तत्कृतं शोभनं नैव भूपाला दुःशका यतः ॥१५९॥ यतः-
"शल्यवह्निविषादीनां सुकरैव प्रतिक्रिया ।
सहसाकृतकार्योत्थानुतापस्य तु नौषधम् ॥१६०॥
भद्दा भूप भुअंगमा ए मुहि दोहिला हुंति ।
वयरी विंछी वाणीआ पूठिं दोह दीअन्ति" ॥१६१॥
तेनास्मात्स्थानकाद् गत्वाऽन्यत्र तिष्ठ रहो बहिः ।
संपूर्णायां प्रतिज्ञायामागन्तव्यं त्वया किल ॥१६२॥
एवं ममापि भवतः कुशलं च भविष्यति ।
अन्यथा कम्पते चित्तं मदीयं ध्वजवस्त्रवत् ॥१६३॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
करिष्याम्यचिराद् भूरिश्रीयुतां त्वामहं ननु ॥१६४॥
हृष्टा वेश्या जगौ चौर ! त्वं धन्यो निर्भयोऽसि च ।
ईदृक्षसंकटे जाते यतो धीरएधा तव ॥१६५॥ यतः—
"सीह सउण न चन्दबल नवि जोइ धणरिद्धि ।
एकल्लउ लक्खहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥१६६॥
चौरेऽप्राक्षीत् कियदस्ति तलारस्य कुटुम्बकम् ।
वेश्याऽवग् विद्यते तस्य पुत्रो नैकोऽपि सम्प्रति ॥१६७॥

सोमाह्वाभगिनीपुत्रः सप्ताब्दः श्यामलाभिधः।
गङ्गागोदावरीतीर्थयात्रायै प्रययौ स तु ॥१६८॥
वर्षाण्यष्टौ ययुस्तस्य तीर्थयात्रागतस्य च।
अद्य यावन्न चायातः श्यामलस्त्वत्समाङ्गरुक् ॥१६९॥
अद्य कल्ये परेद्युर्वा यास्यतीति श्रुतं मया।
श्रुत्वैतत्तस्करः प्राह गमिष्यामि पुरान्तरे ॥१७०॥
यदा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झम्पकम्।
भवत्याशु तदाऽऽगत्योद्घाटनीयश्च झम्पकः ॥१७१॥
वेश्या जगौ यदैषि त्वं झम्पं च वादयिष्यसि।
करिष्येऽहं त्वदुक्तं तत् सर्वं स्तेनशिरोमणे! ॥१७२॥
ततो मलिम्लुचो हृष्टचित्तो वेश्यानिकेतनात्।
निःससार गताशङ्को द्रष्टुं भूयः पुरीं तदा ॥१७३॥
दर्शं दर्शं पुरीमध्ये कौतुकानि पदे पदे।
क्षेप्तुं विघ्ने तलारक्षं विलोकयति सर्वतः ॥१७४॥

गत्वा कार्पटिकावासे लात्वा कावडिकां तथा।
कृततीर्थिकवेषः सन् स्तेनो बभ्राम सर्वतः ॥१७५॥
पूर्वद्वारि तलारस्य क्षुधापीडितवर्ष्मणः।
मिलित्वा संमुखं मामेत्युक्त्वा ननाम तीर्थिकः ॥१७६॥
आकारवर्णरूपेणोपलक्ष्य भागिनेयकम्।
तलारोऽवक् त्वया यात्रा कस्य कस्य कृता ननु ॥१७७॥
भागिनेयो जगौ माम! प्रमादाद् भवतोऽनघात्।
गङ्गागोदावरीमुख्यतीर्थयात्रा कृता मया ॥१७८॥
लाहि गङ्गोदकं गाङ्गं रजो गोदावरीपयः।
ततस्तेनार्पितं तत्तद् गृहीतं निखिलं मुदा ॥१७९॥
श्यामलोऽवक् कथं माम! कृष्णमास्यं तवाधुना।
तलारः कथयामास प्रतिज्ञां स्वां तदग्रतः ॥१८०॥
भागिनेयो जगौ माम! प्रतिज्ञा यत्त्वया कृता।
भूपोपान्ते न तच्चारु यतो दुष्टा महीभुजः ॥१८१॥ यतः—

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं,
सर्प्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता,
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा" ॥१८२॥

अतो धनकुटुम्बादि स्थाप्यते साम्प्रतं रहः ।
नो चेद् भूमिपतिः सर्वश्रियं तव हरिष्यति ॥१८३॥
सिंहः प्राह त्वया सत्यं जल्पितं भागिनेयक ! ।
किं कुर्वेऽहं गृहे गन्तुं न शक्नोम्यधुना मनाक् ॥१८४॥
दुष्टो भूपो न जानेऽहं किं करिष्यति मेऽधुना ।
तेन त्वं मदने गन्वा मिलित्वे दंद्रुतं कुरु ॥१८५॥

श्रीकुटुम्बे रहोऽशेषे कृत्वा तिष्ठ निकेतने ।
श्यामलोऽवक् कथं ब्रूपे (ब्रुवे) एवं तत्रागतोऽहकम् ॥१८६॥
तेन त्वं सेवकं कंचिदाप्तं सार्धं मयाऽधुना ।
द्रुतं कथयितुं तं च प्रेषय त्वं हि मातुल ! ॥१८७॥

तलारप्रेषितः स्त्रीयपत्तियुक् श्यामलः पथि ।
व्रजन् प्राह तलारक्षसेवकं भागिनेयकः ॥१८८॥
भो भोः तलारपत्ते ! हि वक्तव्यं भवना द्रुतम् ।
मातुलोक्तं कुटुम्बाह्वागर्भितं मम पश्यनः ॥१८९॥

बहुभिर्हायनैरत्रागतोऽस्मि साम्प्रतं ननु ।
देहवर्णपरावृत्तिर्भ्रमतो मेऽभवत्पुनः ॥१९०॥
गत्वाऽग्रे सेवकः प्राह तलारक्षप्रियेऽधुना ।
भागिनेयस्तवायातः तीर्थयात्रां विधाय च ॥१९१॥
तलारक्षस्वमस्तेऽद्य यात्रां कृत्वाऽऽययौ सुतः ।
भागिनेये ! तव भ्राता चागतः स्वागतं कुरु ॥१९२॥

श्रुत्वेति श्यामलः शीघ्रं मामकीत्यादिपूर्वकम् ।
चकार विनयं सम्यग् यथायोग्यं पृथक् पृथक् ॥१९३॥
आगतं श्यामलं दृष्ट्वा हृष्टा मात्रादयोऽचिरात् ।
गङ्गोदकादि सर्वासां तीर्थिकः प्रददौ तदा ॥१९४॥

पत्तिः प्राह तलारक्षः प्रोवाचेति मदाननान् ।
युष्माभिर्निखिला लक्ष्मीः स्थापनीया रहोऽचिरात् ॥१९५॥
अद्य यावन्नहि स्तेनो लब्धोऽस्ति भूरिवीक्षितः ।
न ज्ञायते ततो भूपो रुष्टः किं किं करिष्यति ॥१९६॥
इत्युक्त्वा सेवकः पश्चात् तलारोपान्तमेत्य च ।
जगौ स्वामिंस्त्वदीयोक्तं मया चक्रेऽखिलं ध्रुवम् ॥१९७॥
इतोऽवक् मामिकाऽऽकार्य भागिनेयं भयाकुला ।
स्थापय त्वं रमाः सर्वा रहःस्थानेऽधुना चिरात् ॥१९८॥
त्वदीयमातुलेनैवं पत्त्यास्येन निवेदितम् ।
यथा कोऽपि नरो नैव जानाति स्थापितां रमाम् ॥१९९॥
मामिका भागिनेयायादर्शयन्निखिलं धनम् ।
भागिनेयो जगौ कोष्ठ्यां मामिके ! प्रविश द्रुतम् ॥२००॥
शाटीं स्वां त्वं ममाह्वायार्प्पय नो चेन्नरेश्वरः ।
शाटिकाद्यखिलं सर्वं ग्रहीष्यति न संशयः ॥२०१॥

"रुष्टा नरेश्वरा दुष्टमानसा निर्दयाः खलु ।
तृणमात्रमपि धनं न मुञ्चत्यनला इव ॥२०२॥
कोष्ठ्यां प्रविश्य शाटीं श्राग् भागिनेयाय सा ददौ ।
चिक्षेप जननीं गोणिमध्ये छन्नं शठाशयः ॥२०३॥
गोड्डकान्तरे जामिं प्रक्षिप्येदं जगाद मः ।
यदि कश्चिन्नरोऽभ्येत्यात्र मनाक् शब्दयिष्यति ॥२०४॥
भवन्तीभिस्तदा नैव वक्तव्यं बहुजल्पने ।
ततस्ता निखिलास्तस्थुर्मौनमाधाय शीघ्रतः ॥२०५॥
लात्वा भूमिगतं द्रव्यं बाह्यं च भागिनेयकः ।
मुक्त्वा कावडिकां गेहमध्येऽचालीत् तदा रहः ॥२०६॥यतः–
"चोरा चुल्लका विय दुज्जणविज्जा य विप्पपाहुणया ।
नच्चणधुत्तनरिंदा परस्स पीडं न याणंति ॥२०७॥
पूर्वविहितसंकेतवेश्योद्घाटितझम्पकः ।
गृहमध्ये द्रुतं गत्वा तस्करोऽदर्शयत् धनम् ॥२०८॥

कस्येदं विद्यते द्रव्यमित्युक्ते पणयोषिता ।
स्तेनः प्राह तलारस्य हृत्वाऽऽनीतं धनं मया ॥२०९॥
वेश्या दध्यावयं सत्यः तस्करः पश्यतोहरः ।
द्रव्यं सद्यः तलारस्य गेहमध्याज्जहार यः ॥२१०॥

तस्यान्येषां नृणां द्रव्यापहारे का कथा पुनः ।
चौरः प्राह धनमिदं गृह्णातु भवती द्रुतम् ॥२११॥
वेश्या दध्यावयं चौरोऽपूर्वो दात्रादिसद्गुणात् ।
यत एवंविधाश्चौरा दृश्यन्ते न कदाचन ॥२१२॥
तलारक्षः प्रगे राजपार्श्वे गत्वेदमूचिवान् ।
दिनत्रयं क्षुत्तृड्युजा (बाढं) चौरो विलोकितः ॥२१३॥

नैव लब्धो मया स्वामिन् ! तस्करो भ्रमता पुरे ।
कुरुष्व स्तेनदण्डं मे शिरश्छेदादिना द्रुतम् ॥२१४॥ यतः–
दुष्टस्य दण्डः स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्रचिन्ता पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥

चित्तज्ञः शीलसम्पन्नः वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तजल्पको भूपभक्तो भृत्यः प्रशस्यते ॥२१६॥
भक्तिगर्भं तलारोक्तं श्रुत्वा हृष्टो नृपोऽवदत् ।
गच्छ त्वं स्वगृहे सद्यो दूषणं तव नो मनाक् ॥२१७॥

यो मम शयनावासे प्रविश्य विषमेऽपि च ।
भूषणानि रहो लात्वा सद्यो रात्रौ ययौ क्वचिद् ॥२१८॥
स कथं लभ्यते स्तेनो भवता भ्रमता भृशम् ।
तेन त्वं स्वगृहे याहि मत्तो निर्भीकमानसः ॥२१९॥ यतः–
"दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥२२०॥

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां वृत्तिच्छेदो द्विजन्मनाम् ।
पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रो वध उच्यते" ॥२२१॥
नत्वा भूपं तलारक्षो गत्वा गेहमिदं जगौ ।
हे प्रिये ! एहि मुञ्च त्वं पादप्रक्षालनाम्बु मे ॥२२२॥

एवमुक्ते भृशं भार्या यदा जल्पति नो मनाक् ।
तदाऽऽह सोमिके ! किं त्वं नो हि जल्पसि साम्प्रतम् ॥२२३॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते तदेति सोमिका जगौ ।
अहमत्र च गोमाणिमध्येऽस्मि च निरम्बरा ॥२२४॥
भागिनेयाऽपि तेनैवं पृष्टा प्रोवाच पूर्ववत् ।
तलारक्षो जगौ कुत्र विद्यते भागिनेयकः ॥२२५॥
ताभिरुक्तं धनं सर्वमस्मद्वस्त्रादिसंयुतम् ।
न्यासीकुर्वन् क्वचिद् भागिनेयः सम्प्रति वर्त्तते ॥२२६॥
[1]तेनादौ भागिनेयस्य पार्श्वाद् वस्त्राणि वेगतः ।
आनीय देहि नो निस्सरिष्यामो वयकं यथा ॥२२७॥
ततः स लोकते यावद् भागिनेयं गृहान्तरे ।
तावच्छून्यं गृहं भागिनेयश्रीभ्यां ददर्श च ॥२२८॥
ततो व्याकुलचेतस्कस्तलारो ध्यातवानिति ।
हहा ! कश्चिन्महाधूर्त्तो हृत्वा लक्ष्मीं गतोऽधुना ॥२२९॥

दृष्ट्वा कावडिकां गेहान्तरे सद्यस्तलारकः ।
दध्यौ स तस्करो धर्मव्याजेन च ववञ्च माम् ॥२३०॥
ध्यायन्नेवं तलारक्षो मूढात्मा न्यपतद् भुवि ।
निःसृत्य तत्क्षणात्सर्वं तत्रेयाय कुटुम्बकम् ॥२३१॥
चौरः सर्वं धनं लात्वा छलेन तत्क्षणाद् गतः ।
इत्यादिजल्पनपरं बहिस्थः सेवकोऽशृणोत् ॥२३२॥
'चौर' इत्यक्षरश्रेणीं श्रुत्वा तलारसेवकः ।
गत्वा भूपान्तिके सद्यः प्राहेति गद्गदस्वरम् ॥२३३॥
प्रविष्टं तस्करं सौवगृहे दृष्ट्वा तलारकः ।
गृह्णानस्तस्करेणाधश्चक्रे क्रूरात्मनाऽधुना ॥२३४॥
निग्रहीतुं द्रुतं तेन पूज्या धावत धावत ! ।
आकर्ण्यैतत्तलारक्षगेहं भूपः समीयिवान् ॥२३५॥
तलारं पतितं भूमौ निश्चेष्टं वीक्ष्य भूपतिः ।
शीतोपचारकरणाच्चकाराशु सचेतनम् ॥२३६॥

१ तेनादौ देहि वस्त्राण्यस्मभ्यं तानि ददौ स च । तलारो लोकते यावत् गृहमध्ये च तं तदा ॥ ग ।

निःशेषद्रव्यहरणात् तस्करेणेति जल्पनात् ।
तलारोऽवग् मम प्राणाः करिष्यन्ति प्रयाणकम् ॥२३७॥ यतः-
"एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते ।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने" ॥२३८॥
अभिमानो मदीयोऽद्य गतः सर्वोऽधुना क्षयम् ।
तेनान्यत्र गमिष्यामि दूरदेशे क्वचित्प्रभो ! ॥२३९॥
नृपः प्राहात्र भवता धार्यं दुःखं मनाग् नहि ।
भूषणानि रहो लात्वा योऽस्माकं तस्करो ययौ ॥२४०॥
तेन त्वया तलारक्ष ! कार्यः खेदो न चेतसि ।
नहि केषां स्थिरा नृणां लक्ष्मीर्भवति निश्चितम् ॥२४१॥ यतः-
"दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥२४२॥
दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो,
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयति क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठाद्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् ! बह्वधीन धनम्" ॥
एवं स्वस्थं तलारक्षं कृत्वा लक्ष्मीसमर्पणात् ।
भूपः कौतुकितस्वान्तो निजावासमुपेयिवान् ॥२४४॥
उपविश्य सभामध्ये पुनः सारपरिच्छदः ।
बीटकं स्वकरे कृत्वा प्रोवाचेति महीपतिः ॥२४५॥
सभायां कोऽपि वीरोऽस्ति धृत्वा सम्प्रति तस्करम् ।
योऽत्रानयति मत्पार्श्वे गृह्णातु बीटकं स च ॥२४६॥
श्रुत्वैतत्स्वामिनो वाक्यं भट्टमात्रो मुदा तदा ।
गृहीत्वा बीटकं भूपार्पितं प्राहेति संसदि ॥२४७॥
यद्यहं तस्करं घस्रत्रयमध्ये द्रुतं प्रभो ! ।
नानेष्यामि तदा चौरदण्डः कार्यस्त्वया मम ॥२४८॥
इत्युक्त्वा भूपतिं नत्वा भट्टमात्रो नमच्छिराः ।
निःससार सभामध्यादेकाकी खड्गसंयुतः ॥२४९॥

द्विकत्रिकचतुःस्थाने पाटके पाटकेऽभितः ।
मुमोच सुभटान् स्तेनं धर्त्तुं भट्टो रहो निजान् ॥२५०॥
भट्टमात्रश्चतुरशीत्यट्टश्रेणिषु सर्वतः ।
रहोवृत्त्याऽनिशं स्तेनं धर्त्तुं बभ्राम निर्भयः ॥२५१॥

इतस्ततो जगावक ! का वार्त्ताऽस्ति पुरे वद ।
वेश्याऽवग् भट्टमात्रेण परेद्युरिति जल्पितम् ॥२५२॥
"यद्यहं तस्करं घस्र० ॥२५३॥ [२४८]
इत्युक्त्वा नृपतिं नत्वा०" ॥२५४॥ [२४९]
स्थाने स्थाने रहोवृत्त्या भट्टमात्रो दिवानिशम् ।
भ्रमन्नेष्यति चेदत्र तदा मे का गतिर्भवेत् ॥२५५॥ यतः–

"वेश्याऽक्का नृपतिश्चौरो नीरमार्जारमर्कटाः ।
जातवेदाः कलादश्च न विश्वास्या इमे क्वचित् ॥२५६॥
चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलम् ।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥२५७॥

चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
करिष्येऽहं तथा चौर्यं यथा स्यात् सुखमावयोः ॥२५८॥ यतः–
"उद्यमं साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमम् ।
षडेते यस्य विद्यन्ते तस्य देवोऽपि शङ्कते" ॥२५९॥

त्वं बिभेषि कथं वेश्ये ! छलकूटादितत्परा ।
श्रूयन्तेऽखिलशास्त्रेषु पण्यनार्योऽखिलाः खलु ॥२६०॥ यतः–
नयणेहिं रोइ मणि हसइ जण जाणइ सव सच्च ।
वेस विसट्ठह जं करइ तं कट्ठह करवत्तु ॥२६१॥
उपभुक्तखदिरबीटकरक्ताधरदन्तभङ्गभयात् ।
पितरि मृतेऽपि हि वेश्या रोदिति हा तात ! तातेति" ॥२६२॥

विधेया न त्वया भीतिरत्रेदानीं पणाङ्गने ! ।
भूपा एवानने दुष्टाः श्रूयन्ते शास्त्रमध्यतः ॥२६३॥ यतः–
"भद्दा भूप भुअंगम ए मुहि दुहिला हुंति ।
वयरी वींछी वाणीआ पूठिं दाह दिअंति" ॥२६४॥

यस्य कस्याप्यहं पार्श्वे स्थितश्चौर्यपरो रहः।
तस्य क्षोणीपतिर्मानं भूरिलक्ष्म्या प्रदास्यति ॥२६५॥
हृष्टा वेश्या जगौ चौर ! त्वं धन्यो निर्भयोऽसि च।
ईदृक्षे सङ्कटे जाते यतो नास्ति भयं तव ॥२६६॥ यतः—
"कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते सत्त्वगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव" ॥
श्रुत्वैतत्तस्करः प्राह गमिष्यामि पुरान्तरे।
यदैत्याहं च यामिन्यां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥२६८॥
भवत्याऽऽशु तदाऽऽगत्योद्घाट्यश्च फलकः शनैः।
प्राप्ताप्राप्तधनाश्चौराः समेष्यन्ति यतो निशि ॥२६९॥
वेश्या जगौ यदैत्य त्वं झम्पकं वादयिष्यसि।
करिष्येऽहं त्वदुक्तं तत् सर्वं स्तेनशिरोमणे ! ॥२७०॥
ततो मलिम्लुचो देवकुमारो गणिकालयात्।
निस्ससार गताशङ्को द्रष्टुं सर्वां पुरीं तदा ॥२७१॥

भ्रमताऽदृश्यरूपेण स्तेनेन निखिले पुरे।
भट्टमात्रो भ्रमन् सायं दृष्टो वैलक्षमानसः ॥२७२॥
भ्रमतो भट्टमात्रस्याविश्रामं निखिले पुरे।
तृतीयदिवसस्यागात् सन्ध्या कृतान्तसन्निभा ॥२७३॥
रात्रौ सुप्तेषु लोकेषु सर्वेषु तस्करस्तदा।
क्षिप्त्वा पादं निजं नीचहड्यां तस्थौ च निर्भयः ॥२७४॥
इतो भ्रान्त्वा पुरं सर्वं भट्टमात्रं भृशं तदा।
व्रजन्तमग्रतो वीक्ष्य छन्नं प्राहेति तस्करः ॥२७५॥
हे अमात्य महाबुद्धे भट्टमात्र ! नरोत्तम।
क्व गच्छसि किमर्थं त्वं त्वरितं त्वरितं वद ॥२७६॥
श्रुत्वैतच्चकितो भट्टमात्रः पश्चात्समेत्य च।
पप्रच्छात्रासि भो कस्त्वं केनात्र स्थापितो वद ॥२७७॥
सोऽवग् निष्कारणं राज्ञा हड्यां क्षिप्तोऽस्मि निर्दयम्।
विलोकयसि किं मां न दीनं कष्टेन संस्थितम् ॥२७८॥

अमात्योऽवग् मया चक्रे प्रतिज्ञा भूपतेः पुरः ।
धर्तुं चौरं स चाद्यापि कुत्र लब्धः श्रुतोऽपि न ॥२७९॥
तेनातीव मम स्वान्ते दुःखं सम्प्रति विद्यते ।
यतो नैव महीपाला आत्मीयाः स्युः कदाचन ॥२८०॥ यतः–

"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं,
सर्प्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः ।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता,
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा" ॥२८१॥

चौरोऽवग् यदि मे ग्रामान् भूरिशो दापयाचिरात् ।
तदा तस्येह धरणोपायं च कथयाम्यहम् ॥२८२॥
भट्टमात्रो जगौ स्तेनं यदि त्वं दर्शयिष्यसि ।
तदा तुभ्यं बहून् ग्रामान् दापयिष्याम्यहं नृपात् ॥२८३॥
हडिस्थः पुरुषः प्राह तनयोऽहं प्रजापतेः ।
भीमाह्वो मिलितस्तस्य चौरस्य दैवयोगतः ॥२८४॥

स्तेनोऽवक् त्वं मया सार्द्धमायास्यसि पुरे यदि ।
तदा तुभ्यं धनं भूरि दास्येऽहं चौर्यतः खलु ॥२८५॥
लोभात् ततो मया तेन सार्द्धं भ्रान्तं च दस्युना ।
मह्यं किमपि नो वस्तु ददौ चौरः कदाचन ॥२८६॥

"कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो" ॥२८७॥

तत्सङ्गत्याऽधुना चौरभ्रान्त्या धृत्वा महीपतिः ।
हडौ मामत्र चिक्षेप दीनं तादृशसङ्गतेः ॥२८८॥ यतः–

"अंबस्स निंबस्स य दुण्हंपि समागयाइं मूलाइं ।
संसग्गा इ विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥२८९॥

सदा दुर्जनसंसर्गो विपदे वृत्तशालिनाम् ।
वारिहारिघटीपार्श्वे ताड्यते पश्य झल्लरी ॥२९०॥
जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोअस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा, विहुरे वि न कायरा हुंति ॥२९१॥

कल्ये चौरं निरीक्ष्यात्रागतं प्रोक्तमिदं मया ।
त्वत्सङ्गत्याहमीदृक्षामवस्थां दुःखदां गतः ॥२९२॥
निष्काशयाद्य मां मित्र ! सद्यः सङ्कटसंस्थितम् ।
यतो मित्रस्य नो मैत्री विघटेत कदाचन ॥२९३॥ यतः—
पडिवन्नं दिणयरवासराण दोण्हं पि अखंडियं हवइ ।
सूरो न दिणेण विणा दिणो न सूरविरहम्मि ॥२९४॥
उप्परि चंदा तलि कुसुम दूरट्ठिअ विहसंति ।
वामसहस्सेहिं नवि मिलइ नेहा नवि चुक्कंति" ॥२९५॥
चौरोऽवक् स्वशये वामे चन्द्रिका भूरिशोऽपतन् ।
तेनाधुना न शक्नोमि निष्कोष्टुं त्वां सुहृद्वर ! ॥२९६॥
ततः प्रोचे मया मित्र ! मह्यं वितर भोजनम् ।
यावच्छयः क्रमात् सज्जीभवेदीदृक्षरोगतः ॥२९७॥
ततो मह्यं त्रियामिन्यामेत्यात्र ददतेऽदनम् ।
स्वस्थाने सन्ततं छन्नं तिष्ठति स्म दिनोदये ॥२९८॥

मह्यं स्वस्थानकं नैव दर्शयामास तस्करः ।
दृश्यादृश्यवपूरूपस्तिष्ठति स्म पुरान्तरे ॥२९९॥
कुरुते सन्ततं स्तैन्यं महेभ्यभूपसद्मसु ।
आयास्यत्यधुना स्तेनस्तेन तिष्ठ रहः शनैः ॥३००॥
अङ्गीकृत्य वचस्तस्य भट्टमात्रः स्थितो मुदा ।
चौरस्यानागतिं मत्वा पुनः प्राहेति तं प्रति ॥३०१॥
किं नायात्यधुना तावकीनं मित्रं वदोत्तम ।
हडिस्थः पुरुषः प्राह स चौरो लब्धलक्षकः ॥३०२॥
द्वितीयं पुरुषं प्रेक्ष्य पश्चाद् याति पुनः पुनः ।
धरिष्यति(ते) स दुःखेन प्रपञ्चरचनान्ननु ॥३०३॥
क्षिप्त्वा हड्यां पदं तिष्ठाहं तिष्ठामि रहः पुनः ।
यदैत्य भाजनं किञ्चित् तुभ्यं दास्यति यो जनः ॥३०४॥
तदा त्वया करे ग्राह्यो दृढं मुष्ट्या स मानवः ।
नो चेत्कृत्वा छलं सद्योऽदृश्यरूपः प्रयास्यति ॥ (युग्मम्)

१ प्रतिपन्नं दिनकरवासरयोर्द्वयोरपि अखण्डितं भवति । सूरो न दिनेन विना दिनो न सूरविरहे ॥

भट्टमात्रो जगावित्थं गृह्यते तस्करो यदि ।
धर्तुं चौरं तदा मां त्वं हड्यां क्षिप सुहृद्वर ॥३०६॥
भट्टमात्रं दृढं हड्यां क्षिप्त्वा स्थित्वा क्षणं रहः ।
पूर्ववद् गणिकावेश्म नंष्ट्वा चौरश्छली ययौ ॥३०७॥
भट्टमात्रस्ततः पश्यन् तस्यागममनारतम् ।
प्रातर्यावदतीवाभूद् दुःखितो दीनमानसः ॥३०८॥
भो भो नरोत्तमागच्छ मां च निष्काशयाधुना ।
एवं पुनः पुनः प्रोक्त्वा दध्यावेवं स धीसखः ॥३०९॥
तेनाहं वाहितो नूनं छलं कृत्वा दुरात्मना ।
अहं नृभ्यः कथं प्रातर्दर्शयिष्ये मुखं स्वकम् ॥३१०॥
विचिन्त्येति स्ववस्त्रेण छादयित्वा शिरो निजम् ।
तस्थौ लज्जाकुलो भट्टमात्रो दूनाशयस्तदा ॥३११॥
वस्त्रादिचिह्नतो मत्वा भट्टमात्रं जना जगुः ।
अस्येदृक्षं फलं जातं साम्प्रतं निजकर्म्मतः ॥३१२॥ यतः-

"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥३१३॥
सचिवानां प्रधानानां प्रायेण निखिला जनाः ।
जल्पन्ति न शुभं कुत्र देशे काले कदाचन ॥३१४॥
नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके,
जनपदहितकर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विवादे वर्त्तमाने समाने,
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता ॥३१५॥
भट्टमात्रं हडिक्षिप्तं श्रुत्वाऽमात्यो हराभिधः ।
गत्वा भूपान्तिके सद्यः प्राहेत्यरुणलोचनः ॥३१६॥
स्वामिन् ! प्रातः प्रणामोऽयं भवते क्रियते मया ।
तुल्यदण्डपरो जातस्त्वं नीचानीचयोर्यतः ॥३१७॥
"बब्बूलचूतयोः काकहंसयोः खरहस्तिनोः ।
तुल्यत्वं क्रियते शिष्टाशिष्टयोर्भवता किमु" ॥३१८॥

आत्मीयाः सेवकाः किञ्चिदन्यायं कुर्वते यदि ।
गृहमध्ये तदा क्षिप्त्वा नोदना क्रियते भृशम् ॥३१९॥
राजा प्राह मया केषामपराधः कृतो वद ।
मन्त्री प्राह त्वया भट्टमात्रः क्षिप्तो हडौ कथम् ॥३२०॥
दुष्टं कुर्वन्त्यपत्यानि यदि किञ्चित् पितुर्मनाक् ।
तथापि हितवात्सल्यं कुरुते जनकः पुनः ॥३२१॥
श्रुत्वैतद् भूपतिस्तत्र गत्वा वीक्ष्य च मन्त्रिणम् ।
कर्षयामास हडितः प्रोवाचेति पुनस्तदा ॥३२२॥
कुतो जातमिदं कष्टं भट्टमात्र ! तवाधुना ।
भट्टमात्रो जगौ स्वामिन् ! वक्तुं नैवेह शक्यते ॥३२३॥
भूपोऽवक् त्वं तथाऽप्यत्र जल्प तस्करचेष्टितम् ।[1]
भट्टमात्रस्ततोऽशेषं नैशं वृत्तान्तमूचिवान् ॥३२४॥
स्मारं स्मारं तदा चौरचेष्टितं रजनीकृतम् ।
भट्टमात्रो दधौ चित्ते विषादमात्मनो भृशम् ॥३२५॥ यतः-
"कालः ममविषमकरः कालः सन्मानकारको लोके ।
कालः करोति पुरुषं दातारं याचितारं वा" ॥३२६॥
शशिनि खलु कलङ्कं कण्टकं पद्मनाले;
जलधिजलमपेयं पण्डिते निर्धनत्वम् ।
दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे,
धनपति कृपणत्वं रत्नदोषी कृतान्तः ॥३२७॥
"शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजंगविहंगमबन्धनम् ।
मतिमतां च समीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥
भूपः प्राह स कीदृक्षो विद्यते तस्करो वद ।
मन्त्र्यवग् मृ(मि)ष्टवाक् चारुरूपदेहो लघुः स च ॥३२९॥
राजा जगौ भवन्त्येवंविधा धूर्त्ताश्च तस्कराः ।
वञ्चयन्तो जनान् नित्यं मुखकूजल्पनादिभिः ॥३३०॥ यतः-

---

१ ब्रूहीत्युक्तो महीशेन भट्टमात्रस्तदा स्फुटम् । कथयामास निःशेषं नैशं वृत्तान्तमात्मनः ॥
अवस्थामीदृशं तेन तस्करेण तदा निशि । भट्टमात्रस्त–ग ।

"मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं कर्तरीतुल्यं त्रिविधं धूर्त्तलक्षणम्" ॥३३१॥
दुर्जनैरुच्यमानानि वचांसि मधुराण्यपि ।
अकालकुसुमानीव मन्त्रासं जनयन्त्यलम् ॥३३२॥
चोरा चुल्लका वि अ दुज्जण भट्टा य वेज्ज पाहुणया
नच्चणधुत्तनरिंदा परस्स पीडं न याणंति " ॥३३३॥
भट्टमात्रात्र भवतो दूषणं न मनागपि ।
दुःखाब्धौ यस्तलारक्षं पातयामास मामपि ३३४॥
त्वया सर्वप्रकारेण कुर्वता शासनं मम ।
कृतं कार्यं न तेनात्र खेदः कार्यः स्वमानसे ॥३३५॥ यतः–
"आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां वृत्तिच्छेदः सुधाभुजाम् ।
पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रो वध उच्यते" ॥३३६॥
सती पत्युः प्रभोः पत्तिर्गुरोः शिष्यः पितुः सुतः ।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनोव्रतम्" ॥३३७॥

आश्वास्येति लसद्वाक्यैर्भट्टमात्रं महीपतिः ।
स्तेनवृत्तं स्मरन् चित्ते जग्मिवान् निजवेश्मनि ॥३३८॥
वेश्यासद्मस्थितोऽन्येद्युः स्तेनोऽप्राक्षीत्पणाङ्गनाम् ।
पुरीमध्येऽधुना का का वार्ता केषां प्रवर्त्तते ॥३३९॥
किं किं करोति भूपालः पुरीमध्येऽधुना पुनः ।
ततो ज्ञात्वा पुरीवार्तां वेश्या प्राहेति तत्र मा ॥३४०॥
आकार्य भट्टमात्रादीन् पप्रच्छेति प्रजापतिः ।
ग्रहीष्यते कथं चौरो भवद्भिः कथ्यतामिह ॥३४१॥
भट्टमात्रादयः प्रोचुः पुरीमध्ये मलीम्लुचः ।
कस्याश्रित्य गृहं स्तैन्यं कुरुते सन्ततं छली ॥३४२॥
पुर्य्मेतन्महत् तेन वाद्यते पटहः स्फुटम् ।
यः कश्चित्पुरुषः स्त्री वा कर्षयति स्म तस्करम् ॥३४३॥
अष्टौ तस्याशुर्लक्षोत्पत्तिकृन्नगराणि च ।
विश्राणयिष्यति क्ष्मापो दानसन्मानतश्च तम् ॥३४४॥

१ प्रोवाचेति ततो वेश्या स्तेनस्य पुरतस्तदा–ग। २–नपूर्वकम् ग।

वाद्यतामिति भूपोक्ते पटहो मन्त्रिभिस्तदा ।
वेदवसुप्रमाणेषु चतुर्हट्टेषु वाद्यते ॥३४५॥
पण्यस्त्रीपाटके वाद्यमानं पटहमागतम् ।
चतस्रो गणिका मुख्याः श्रुत्वेत्येवं जगुर्मिथः ॥३४६॥
आत्मीयसदने लोका नित्यमायान्ति भूरिशः ।
तन्मध्यादेककं चौरं जल्पित्वेत्यर्प्पयिष्यते ॥३४७॥
समागते ततो भूपप्रसादे स्वीयसद्मनि ।
वयं सर्वप्रकारेण सुखिन्यः स्मो धनादिभिः ॥३४८॥
विमृश्येति ततस्ताभिः संस्पृष्टे पटहे सति ।
नृपादिमन्त्रिणः सर्वे बभूवुर्मुदिताशयाः ॥३४९॥ यतः—
"समीहितेऽखिले कार्ये सिद्धिं याते सति स्फुटम् ।
मोदन्ते मनुजा रत्नाकरा इवोदिते विधौ" ॥३५०॥
आनीता मन्त्रिभिर्वेश्या जगुरेव नृपान्तिके ।
तस्करं कर्षयिष्यामोऽष्टाहोमध्ये वयं न चेत् ॥३५१॥
चौरदण्डस्तदाऽस्माकं कर्त्तव्यो भूपते ! त्वया ।
श्रुत्वेति मन्त्रिणः प्रोचुर्धीमत्यो गणिका यतः ॥३५२॥
अत्रावसरे वेश्याकथा ।
प्रतिज्ञामिति भूपाग्रे कृत्वा वेश्या निजालये ।
समेत्य कुर्वते स्तेनधरणोपायमन्वहम् ॥३५३॥
ततः स्वस्वगृहे लोका जगुरेवं सुतान् प्रति ।
कुत्रापि नैव गन्तव्यमुत्सूरे नीचवेश्मनि ॥३५४॥
वेश्याभिः पटहः स्पृष्टस्तेन कर्षणहेतवे ।
कदाचित् ता नरं कश्चित् छलाल्लात्वा नृपान्तिके ॥३५५॥
जल्पिष्यन्ति हाऽमुं चौरं तदा का वो गतिर्भवेत् ।
यतः स्युर्गणिका नानाकौटिल्यवञ्चनापराः ॥३५६॥ यतः—
"मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि ।
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवे" ॥३५७॥
इत्यादिवेश्यासूक्तानि ज्ञातव्यानि ॥

१ विधायेत्यर्प० ग ।

पुरीमध्ये भवन्त्येवंविधा वार्त्ताः पदे पदे ।
छलछद्मपरा दुष्टाः सन्ति याः पणयोषितः ॥३५८॥
कदाचित्ताः समीपस्थास्त्वां ज्ञास्यन्त्यत्र संस्थितम् ।
तदा भावी महानर्थो मम तव च निश्चितम् ॥३५९॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
तथा बुद्ध्या करिष्यामि यथा स्यात्सुखमावयोः ॥३६०॥
कियन्तो वासरा जाता इत्युक्ते दस्युना तदा ।
वेश्या प्राहाऽष्टमो घस्रो भविष्यति प्रगे पुनः ॥३६१॥
ततः स्तेनो जगावद्य गमिष्यामि पुरान्तरे ।
यथा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥३६२॥
भवत्यैत्य तदा शीघ्रमुद्घाट्यो झम्पकः शनैः ।
ओमित्युक्ते तया स्तेनो वणिग्वेषधरोऽचलत् ॥३६३॥
कस्मिंश्चिन्नगरे गत्वा क्रीत्वा गोणीश्च विंशतिम् ।
रहश्च गोमयच्छाणैर्भृता वैक्रमदस्युना ॥३६४॥

केषाञ्चित्सविधे पुंसां गत्वा पप्रच्छ वैक्रमः ।
भाटकं कोऽपि कुर्वीत ते जगुः कुर्म्महे वयम् ॥३६५॥
दत्से त्वं किं किमेकस्याः गोण्याः प्राह वणिक् ततः ।
द्रम्मान् दश दशावन्त्यां गतो दास्याम्यहं पुनः ॥३६६॥
गोणीनां विंशतिं लात्वा भाटकेन वणिग्वरः ।
सार्थेशीभूय भूपाध्वमध्येऽवन्त्यामगान्निशि ॥३६७॥
गोघंटामधुरध्वानं श्रुत्वेति मानवा जगुः ।
कोऽप्यपूर्वः समायातः सार्थेशो धनवान् पुरि ॥३६८॥
मुख्यवेश्यागृहोपान्ते गोणीरुत्तार्य सार्थपः ।
गत्वा पानवणिग्गेहे मद्यकुम्भद्वयं ललौ ॥३६९॥
निश्चेष्टकाष्ठकृत्सारस्वरकृच्चूर्णयोः [3]पुटीम् ।
लात्वा वैद्यापणे सार्थाधिपतिश्चलितस्ततः ॥३७०॥
दौमिकाट्टे दुकूलानि सुन्दराण्यग्रहीत्पुनः ।
पुष्पलाविगृहे गत्वा सुपुष्पाण्याददे तदा ॥३७१॥

१ ऽचालीद् लात्वा कियद्धनम् ग । २ मलीम्लुचः ग । ३ पटीम् क–ग ।

[1]सार्थप्रेषितो वेश्यागृहेऽभ्येत्य जगौ नरः ।
आगतोऽस्त्यत्र सार्थेशो ददद् दानमनर्गलम् ।।३७२।।
भवन्त्यो यदि तस्याग्रे कुर्वन्तु नर्त्तनं वरम् ।
मधुरध्वनिगीतानि वितन्वन्तु च सम्प्रति ।।३७३।।
तदा [2]दुकूलदीनारमुख्यवस्तूनि भूरिशः ।
दास्यत्येव भवन्तीभ्यो नात्र कार्या विचारणा ।।३७४।।
प्रोचुर्मिथो रहो वेश्या गम्यते तत्र साम्प्रतम् ।
आदौ ग्रहीष्यते लक्ष्मीः पश्चादेवं करिष्यते ।।३७५।।
[3]स्तेनस्त्वमिति दत्त्वाऽऽलं तं नेष्यामि नृपान्तिके ।
ग्रामा अष्टौ च तादृक्षा भविष्यन्त्यात्मनः पुनः ।।३७६।।
विमृश्येत्युदितं ताभिः पुरनारीभिरञ्जसा ।
सज्जीभूय समेष्यामो वयं तत्र व्रजाधुना ।।३७७।।
[4]वेश्यागमं नगात् तस्माज्ज्ञात्वा दत्त्वा भृतिं नरान् ।
विसृज्य निखिलान् गोणीरेकीकृत्य च तस्थिवान् ।।३७८।।
इतो वेश्याः प्रदीपादिसामग्रीं निखिलां तदा ।
लात्वा तत्राययुर्नृत्यं कर्तुं सार्थपसन्निधौ ।।३७९।।
पृष्टं ताभिः क्व सार्थेशो गतोऽन्येऽपि नरा ययुः ।
स प्राह ते गताः पुर्यां कार्यार्थमात्मनः पृथक् ।।३८०।।
अहमेवास्मि सार्थेशो भवतीभ्यो धनं बहु ।
दास्येऽधुना च कुर्वन्तु नृत्यं मम पुरोऽनघम् ।।३८१।।
एकशो विहितं नृत्यं यावत्ताभिर्मनोहरम् ।
तावद् ददौ दुकूलानि नेभ्यः सार्थपतिस्तदा ।।३८२।।
हृष्टाः पण्याङ्गनाश्चारुचमत्कृतिकरं भृशम् ।
नृत्यं गीतादिभिश्चक्रुः सार्थनाथाग्रतः पुनः ।।३८३।।
द्वितीयवारं नृत्यान्ते सार्थाधीशो जगावदः ।
भवतीभ्योऽधुना मह्यं रोचते चेत्तदा ददे ।।३८४।।

१ ततो वेश्यागृहे गत्वा सार्थाधीशो जगावद **ग**। २ दीनारदुकूलादीनि वस्तूनि **ग**। ३ तस्य चौरेति द० **ग**। ४ आगत्य सार्थपो दत्त्वा भाटकं भाटिकान् नरान्–**ग**।

ताभिरुक्तं किमन्यद् नो मद्याद्वस्तु विलोक्यते ।
अस्मत्तुल्यनृणामेतद् विद्यतेऽभीष्टमेव हि ॥३८५॥
मधुरस्वानकृच्चूर्णमिश्रमद्यभृतं घटम् ।
सार्थनाथो ददौ ताभ्यः पण्यस्त्रीभ्यो मनोहरम् ॥३८६॥

ततः पीत्वा सुरामाभिरतीव मधुरध्वनि ।
गीतं कर्त्तुं समारब्धं कर्णसौख्यकरं भृशम् ॥३८७॥
मधुरध्वनिमाकर्ण्य दृष्ट्वा नृत्यं च सुन्दरम् ।
सार्थेशो ददते दानं वस्त्रताम्बूलसंयुतम् ॥३८८॥
दातारं तादृशं सार्थनाथं वीक्ष्य पणाङ्गनाः ।
हृष्टाः सर्वोत्तमं नृत्यं चक्रुस्तस्याग्रतस्तदा ॥३८९॥

क्षणात्सार्थपतिः प्राह पुनर्मद्यं ददाम्यहम् ।
वेश्याः प्रोचुर्यथेष्टं नो रोचते मदिरेदृशी ॥३९०॥
निश्चेष्टकाष्ठकृच्चूर्णमिश्रितां मदिरां पुनः ।

ततः क्षणेन ताः सर्वाः मूर्छिताः पण्ययोषितः ।
निश्चेष्टकाष्ठवत्सुप्ता भूमीपीठे विचेतनाः ॥३९२॥ यतः—
"मदिरापानमात्रेण बुद्धिर्नश्यति दूरतः ।
वैदग्धीबन्धुरस्यापि दौर्भाग्येणेव कामिनी ॥३९३॥

पापाः कादम्बरीपानविवशीकृतचेतनाः ।
जननीं हा प्रियायन्ति जननीयन्ति च प्रियाम् ॥३९४॥
न जानाति परं स्वं वा मद्याच्चलितचेतनः ।
स्वामीयति वराकः स्वं स्वामिनं किंकरीयति ॥३९५॥
मद्यपस्य शवस्येव लुठितस्य चतुष्पथे ।
मूत्रयन्ति मुखे श्वानो व्यात्ते विवरशङ्कया ॥३९६॥

मद्यपानरसे मग्नो नग्नः स्वपिति चत्वरे ।
गूढं च स्वमभिप्रायं प्रकाशयति लीलया ॥३९७॥
वारुणीपानतो यान्ति, कान्तिकीर्त्तिमतिश्रियः ।

भूतात्तवन्नरीनर्त्ति रारटीति सशोकवत् ।
दाहज्वरार्त्तवद् भूमौ, सुरापो लोलुठीति च ॥३९९॥ इत्यादि
तासां सर्वं ततो दिव्याम्बराभरणसञ्चयम् ।
स्वार्पितं च धनं लात्वा नग्नीकृता[1] विचेतनाः ॥४००॥
शम्भोः कूपारघट्टस्थमालाभ्यो घटिकाः स च ।
उत्तार्य तास्ततो नग्ना बबन्धुः पुरनायिकाः ॥४०१॥
समानीयान्यतः[2] स्थानाद् दधि सार्थपतिस्तदा ।
दत्त्वा तासां मुखे सौवस्थानके पूर्ववद् ययौ ॥४०२॥
दर्शयित्वा[3] च वेश्यायै सर्वमाभरणादिकम् ।
तदानयनवृत्तान्तं मूलतस्तस्करो[4] जगौ ॥४०३॥
वेश्या दध्याववयं सत्यस्तस्करः पश्यतोहरः ।
यतोऽनेनाधुना बाढं वञ्चिताः पणयोषितः ॥४०४॥ यतः–
"अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥४०५॥
शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं,
गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमतां च समीक्ष्य दरिद्रतां,
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥४०६॥
इतः स्नात्रकृते पूजाकरो गत्वा हरालये ।
कूपपावटकं प्रातश्चालयामास यत्नतः ॥४०७॥
अरघट्टं स्थिरं मत्वा पश्चाद् यावद्विलोकते ।
शम्भोः कूपघटीस्थानं वीक्ष्य दध्याविदं हृदि ॥४०८॥
किं शाकिन्योऽथवा दुष्टपिशाचिन्योऽथ शक्तयः ।
शीकोतर्योऽथवा मार्यो व्यन्तर्यो राक्षसाङ्गनाः ॥४०९॥
विकरालाकृतिं तासां दृष्ट्वा बिभ्यच्च देवव्यङ् ।
कम्पमानो नृपोपान्ते गत्वा सद्यो जगाविदः ॥४१०॥
शम्भोः कूपघटीस्थानं साम्प्रतं शक्तिभिर्भृतम् ।
तेन तत्रैत्य भूपाल! कार्यन्तां शान्तिकाः क्रियाः ॥४११॥

---

१ नग्नीचक्रे च तेन ताः ग । २ आनीय कस्यचित्स्थानात् ग । ३ स्तेनो ददर्श वे०–ग । ४ मूलतश्चाखिलं ।

नो चेद् दुष्टाशयाः सर्वा उत्थिताः शक्तयः पुनः ।
करिष्यन्ति हि लोकानां पुरेऽनर्थं महत्तमम् ॥४१२॥ यतः-
"अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति" ॥४१३॥

अत्रानागतविधातृप्रत्युन्पन्न(मतियद् -)
भविष्यमित्रत्रयदृष्टान्तो वाच्यः ॥

श्रुत्वैतच्चकितो राजा गत्वा यावन्निरीक्षते ।
तावन्मृगेक्षणा नग्ना दृष्ट्वाऽजनि पराङ्मुखः ॥४१४॥
"परनारीर्निरीक्ष्याशु सन्तः सद्यः पराङ्मुखाः ।
जायन्ते वर्षतोऽम्भोदादिव वृषभपुङ्गवाः ॥४१५॥
दट्ठूण परकलत्तं०" ॥४१६॥
प्रोचुर्मन्त्रीश्वराः क्ष्माप! नामूः स्युः शक्तयः खलु ।
किन्तु याभिः कृता पूर्वं प्रतिज्ञा भवदन्तिके ॥४१७॥
ता एव गणिका नूनं संभाव्यन्तेऽत्र संप्रति ।
केनचिच्छलिना बद्धा अमूः कूपारघट्टके ॥४१८॥
प्रोचुश्च मन्त्रिणस्तेन स्तेनेनेदं कृतं ननु ।
तत उत्तारयामास सेवकैस्ता महीपतिः ॥४१९॥
शर्करामिश्रितं दुग्धं पाययित्वा च तास्तदा ।
सचेतनीकृता भूमीभुजा च परिधापिताः ॥४२०॥
राज्ञा पृष्टं कृतं केनेदमित्युक्ते पणाङ्गनाः ।
निःशेषनेशवृत्तान्तं मूलतश्च जगुस्तदा ॥४२१॥
श्रुत्वेनद् भूपतिः प्राह सैष स्तेनश्छली भृशम् ।
कृत्वेदं निखिलं सद्यः प्रययौ कुत्रचिन्निशि ॥४२२॥
भवतीभिश्च भेतव्यं मत्तो नैव मनागपि ।
इत्युक्त्वा भूपतिः सोऽथ मन्दिरं समुपेयिवान् ॥४२३॥
अन्येऽपि मन्त्रिणो वेश्यादयो लोकाश्च भूरिशः ।
ध्यायन्तो वृत्तमाश्चर्यकृत् तस्य स्वगृहं ययुः ॥४२४॥

वेश्यापराभवाधिकारः ॥

अन्येद्युर्गणिकौकःस्थः स्तेनोऽप्राक्षीत् पणाङ्गनाम् ।
पुरीमध्येऽधुना का का वार्त्ता केषां प्रवर्त्तते ॥४२५॥
किं करोति महीपालः भट्टमात्रादिसंयुतः ।
प्रोवाच गणिका तत्र स्तेनस्य पुरतो रहः ॥४२६॥
आकार्य भट्टमात्रादीन् पप्रच्छेति महीपतिः ।
विगोपिता भृशं पण्यभामिन्यस्तेन दस्युना ॥४२७॥
ग्रहीष्यते कथं चौरोऽधुनेदृक्षपराक्रमः ।
भट्टमात्रादयो मन्त्रीश्वरा भूपाग्रतो जगुः ॥४२८॥
पुरीमध्येऽधुना कस्य गृहमाश्रित्य सन्ततम् ।
कुरुते तस्करः स्तैन्यं नानारूपधराङ्ककः ॥४२९॥
श्रुत्वैतत्कौटिको द्यूतकारकः प्रोक्तवानिदम् ।
स्वामिन्! अद्य ममादेशं देहि चौरस्य कर्षणे ॥४३०॥
स्वामिन्! सर्वेऽपि सुभटास्तिष्ठन्तु स्थानके निजे ।
त्वदादेशादहं स्तेनं कर्षयिष्यामि हेलया ॥४३१॥

नृपः प्रोवाच मैवं त्वं वद सम्प्रति कौटिक ! ।
यतश्चौरोऽस्ति दुर्ग्राह्यो देवानां बलिनामपि ॥४३२॥
कौटिकोऽवक् तव स्वामिन् ! द्यूतकृत्सेवकोऽस्म्यहम् ।
त्वत्प्रसत्ते स्यात्स्तेनो वश्यो मम भविष्यति ॥४३३॥ यतः–
"राजानमेव संसृज्य विद्वान् याति पंरोन्नतिम्[1] ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं किं विवर्धते ॥४३४॥
धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
मदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने भूपतौ सति" ॥४३५॥
नो हि चेन्मस्तकं भद्रीकृत्वा[2] मम खरोपरि ।
मां चारोप्य पुरीमध्ये भ्रामितव्यं स्वसेवकैः ॥४३६॥
एवमस्त्विति भूपोक्ते कौटिको द्यूतकृत् तदा ।
कियत्सुभटसंयुक्तोऽचालीत् धर्त्तुं च तस्करम् ॥४३७॥
श्रुत्वैतत्तस्करः प्राह गमिष्यामि पुरान्तरे ।
यदैत्याहं त्रियामिन्यां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥४३८॥

---

१ परां गतिं ग । २ मुण्डीकृत्येत्यर्थः ।

भवत्याऽऽशु तदागत्योद्घाट्यश्च फलकः शनैः ।
प्राप्ताप्राप्तधनाश्चौराः समेष्यन्ति यतो निशि ॥४३९॥
मिलित्वा प्रकटं द्यूतकृतस्तस्याहमञ्जसा ।
लात्वा किमप्यभिज्ञानमेष्याम्यत्र निकेतने ॥४४०॥
वेश्या जगौ यदैन्य त्वं झम्पकं वादयिष्यसि ।
करिष्येऽहं त्वदुक्तं तत् सर्वं स्तेनावतंसक ! ॥४४१॥
ततो मलिम्लुचो हृष्टचित्तो वेश्यानिकेतनात् ।
निस्ससार गताशङ्को द्रष्टुकामश्च कौटिकम् ॥४४२॥
भ्रमताऽदृश्यरूपेण स्तेनेन निखिले पुरे ।
चतुष्पथे स्थिते सम्यक् कौटिको ह्युपलक्षितः ॥४४३॥
कृत्वा स्फारजटां लिङ्गिरूपभृत् तस्करो निशि ।
सरःपालिस्थचण्डाया एत्य सद्मन्युपाविशत् ॥४४४॥
इतोऽभितः पुरीमध्ये कौटिको द्यूतकृद् भ्रमन् ।
नत्वाऽवग् लिङ्गिनं प्रेक्ष्योपविष्टं चण्डिकाऽऽलये ॥४४५॥
योगिन् ! कथं प्रलम्बाऽभूत् जटा तव मनोहरा ।
मुष्णतश्च पुरीं दस्योर्ज्ञायते स्थानकं कथम् ॥४४६॥ यतः—
“रोगिणां सुहृदो वैद्याः प्रभूणां चाटुकारिणः ।
मुनयो दुःखदग्धानां गणकाः क्षीणसम्पदाम्” ॥४४७॥
लिङ्गी प्रोवाच भो भद्र ! भद्रीकृत्वा शिरो यदि ।
चूर्णनानेन लिम्पित्वा त्वं कुरुष्वेति सम्प्रति ॥४४८॥
मन्त्रो मदर्पितो वारिमध्ये आकण्ठसंस्थितैः ।
अहर्घटीद्वयं यावत् भवद्भिर्जप्यते भृशम् ॥४४९॥
अहमत्र स्थितो ध्यानं करोमि विधिवत्तथा ।
यथा तत्र स्थितस्त्वं हि वेत्सि चौरस्थितिं द्रुतम् ॥४५०॥
मज्जटावत् प्रलम्बाऽऽशु वेणी च तावकाऽखिला ।
भविष्यति न संदेहश्चटितेऽह्नोर्घटिकाद्वये ॥४५१॥
योगिनोक्तं ततः सर्वं कृत्वा कौटिकद्यूतकृत् ।
स्वसेवकयुतो वारिमध्ये तस्थौ समाहितः ॥४५२॥

१ सर्वस्मिन् पुस्तके क्वचित् 'कोडिक' 'कौटिक' 'कोटिक' इत्यनेकधा पाठः ॥ २ स्थिना यूयं वित्थ चौ० ग ।

इतश्च कौटिकधूतकुट्टाटानां मलिम्लुचः ।
गृहीत्वा वस्त्रखड्गाद्यचालीत् स्वस्थानकं प्रति ॥४५३॥
चलन्मलिम्लुचो लिङ्गिरूपं संहृत्य पूर्ववत् ।
गत्वा वेश्यालये नैशं स्ववृत्तमूचिवान् निशि ॥४५४॥
वेश्या प्राह भवान् सत्यस्तस्करोऽस्यधुना स्फुटम् ।
कौटिकोऽपि त्वया क्षिप्तः सङ्कटे विकटे यतः ॥४५५॥
प्रातर्नीरार्थमायान्त्यस्तत्र पानीयहारिकाः ।
दृष्ट्वा कौटिककं प्रोचुः किमेष कौटिको ननु ॥४५६॥
प्रतिज्ञा विहिता तेन कर्षितुं तस्करं खलु ।
अतस्तेनाप्यमौ दुःस्थामीदृक्षां प्रापितोऽधुना ॥४५७॥
अनेन वञ्चिता लोका बहवश्छलितोऽत्र यत् ।
इह तत्पापमायातं परत्र किं भविष्यति ॥४५८॥
इतः प्रातर्मनुष्यास्यात् तादृशीं कौटिकापदम् ।
निशम्य मन्त्रिणो भूपपार्श्वेऽभ्येत्य जगुस्तदा ॥४५९॥

स्वामिंस्तस्या प्रतिज्ञायास्तिष्ठते दिवसद्वयम् ।
त्वयाऽद्याह्नि कथं तस्य दण्डश्च कारितो द्रुतम् ॥४६०॥
"सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति साधवः ।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥४६१॥
अलसंतेण वि सज्जणेण जे अक्खरा समुल्लविआ ।
ते पत्थरटंकुक्कीरिअव्व न हु अन्नहा हुंते ॥४६२॥
अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं
कूर्मो बिभर्ति धरणीमपि पृष्ठकेन ।
अम्भोनिधिर्वहति दुर्वहवाडवाग्नि-
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" ॥४६३॥
राजा प्राह मया तस्य कौटिकस्याक्षदीविनः ।
दण्डो न कारितः शीर्षभद्रीकारादिनाऽधुना ॥४६४॥
ततश्च मन्त्रिणः प्रोचुः स्वामिंस्तत्रेत्य सम्प्रति ।
सम्यग्विलोकयतां तस्यावस्थां जातामनीदृशीम् ॥४६५॥

१ इतश्च पातर्मनुष्यात् **क ख** । २ अलसयता ऽपि सज्जनेन येऽक्षराः समुल्लपिताः । ते प्रस्तरटङ्कोत्कीर्णा इव नैवान्यथा भवन्ति ॥

ततस्तत्रैत्य भूपालस्तान् दृष्ट्वेति जगौ तदा ।
निस्सरताम्बुतो यूयं प्रतिज्ञा पूरिता च वः ॥४६६॥
कौटिकोऽवग् महीपाल! स्थीयतां क्षणमेककम् ।
ज्ञात्वा चौरस्थितिं सम्यक् कथयिष्याम्यहं तव ॥४६७॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्त्वा घटितेऽह्नो घटीद्वये ।
अज्ञातस्तेनवृत्तान्तः कौटिको निःसृतो जलात् ॥४६८॥
राजा पप्रच्छ केनेदं भवतो विहितं वद ।
कौटिकोऽवक् कृतं रात्रौ लिङ्गिना चण्डिकाऽऽलये ॥४६९॥
ततश्चण्डीगृहे गत्वा भूपोऽप्रेक्ष्य च लिङ्गिनम् ।
प्राहेति वाहितो रात्रौ तेन स्तेनेन निश्चितम् ॥४७०॥
कर्तव्यं भवता दुःखं न मनाग् हृदि सम्प्रति ।
येनाप्यस्मादृशाः कूटे पातितास्तत्र को भवान् ॥४७१॥
ततो न भवतः किंचिद् दूषणं विद्यतेऽधुना ।
यतो न कर्मतो देवैश्छुट्यते कुत्रचिन्मनाक् ॥४७२॥ यतः–

"स्थानं त्रिकूटः परिखा समुद्रो, रक्षांसि योधा धनदाश्च वित्तम् ।
सञ्जीवनी यस्य मुखे च विद्या, स रावणः कालवशाद् विपन्नः ॥
कर्मणोऽपि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ।
वसिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने ॥४७४॥
तिंत्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्कि केसवा रामा ।
संहरिया हयविहिणा सेसेसु जीएसु का गु(ग)णणा" ॥४७५॥
ततो मन्त्रीश्वराः प्रोचुः स एव तस्करश्छली ।
कृत्वेदं भवतः सर्वं प्रययौ कुत्रचिन्निशि ॥४७६॥
भवता कौटिकेदानीं मत्तः कार्यं भयं नहि ।
इत्युक्त्वा भूपतिः सौधमन्दिरं समुपेयिवान् ॥४७७॥
अन्येऽपि मन्त्रिणो भट्टमात्राद्या निखिलास्तदा ।
ध्यायन्तो मानसे स्तेनवृत्तं स्वं स्वं गृहं ययुः ॥४७८॥
वेश्यामन्दिरस्थितोऽन्येद्युः स्तेनोऽप्राक्षीत्पणाङ्गनाम् ।
पुरीमध्येऽधुना का का वार्त्ता केषां प्रवर्त्तते ॥४७९॥

१ तीर्थकरा गणधारिणः सुरपतयः चक्रिणः केशवाः रामाः । संहृता हतविधिना शेषेषु जीवेषु का गणना ॥

किं करोति महीपालः कुर्वन्ति मन्त्रिणश्च किम् ।
प्रोवाचेति ततो वेश्या स्तेनस्य पुरतो रहः ॥४८०॥
आकार्य मेदिनीनाथः सचिवानेवमूचिवान् ।
कर्षयिष्याम्यहं स्तेनं वासरत्रयमध्यतः ॥४८१॥
मन्त्रीश्वरा जगुः स्वामिन् ! दुर्ग्राह्योऽस्ति स तस्करः ।
तेनैवं स्वामिना नैवं वक्तव्यं साम्प्रतं मनाग् ॥४८२॥
राजा प्रोवाच मन्त्रीशाः ! प्रतिज्ञां कुरुते यकः ।
तं तं स तस्करोऽतीव विगोपयति सन्ततम् ॥४८३॥
अद्य केषां पुनर्नृणामादेशो दीयते मया ।
तेनाहं तस्करं धर्त्तुं व्रजिष्यामि पुरान्तरे ॥४८४॥
कर्षयिष्याम्यहं स्तेनं न चेदत्र प्रपश्चतः ।
चौरदण्डस्तदा कार्यो भवद्भिर्मम निश्चितम् ॥४८५॥
प्रोचुर्मन्त्रीश्वराः स्वामिन् ! स्तेनदण्डो महीपतेः ।
नैव दृष्टः श्रुतो नैव कुत्रापि शास्त्रमध्यतः ॥४८६॥ यतः-

"दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य च सम्प्रवृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥
दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः ॥४८८॥
सेवा गुरौ तदादिष्टग्रहः पुरुषसंग्रहः ।
शौर्यं धर्मश्च पञ्चामी राज्यलक्ष्मीलताम्बुदाः ॥४८९॥
आपन्नस्यार्त्तिहरणं शरणागतरक्षणम् ।
त्यागः पुण्यानुरागश्च राज्यलक्ष्मीलताम्बुदाः" ॥४९०॥
मन्त्रीश्वरा जगुः स्वामिन् ! नैवं भवति कर्हिचित् ।
यदि ते रोचते चित्ते तदेवं[1] क्रियतेऽधुना ॥४९१॥
स्वामिन् ! मलिम्लुचं धर्त्तुं प्रतिज्ञां साम्प्रतं विना ।
भवान् गच्छतु निर्विघ्नं सप्ताष्टसेवकान्वितः ॥४९२॥
राजा प्राहाहमेकाकी धरिष्यामि च तस्करम् ।
न चेद्धरिष्यते[2] स्तेनो मयाऽहस्त्रयमध्यतः ॥४९३॥

१ एवं सम्प्रति भूपते-ग । २ तदा-ग ।

तदाऽष्टौ कोटयो हेम्नो व्ययनीया नृपे ध्रुवम् ।
एवमुक्त्वा नृपः खड्गसहायो नष्टचर्यया ॥४९४॥
स्तेनं धर्तुं रहः पुर्यां निशि बभ्राम भूपतिः ।
तेनात्र भवतः स्थातुं युज्यते साम्प्रतं नहि ॥४९५॥
कदाचिद् विक्रमादित्यस्त्वां ज्ञास्यत्यत्र संस्थितम् ।
तदा भावी महानर्थो मम तव च निश्चितम् ॥४९६॥
"दुष्टानां दमनं शिष्टजनानां पालनं पुनः ।
करोति भूपतिः सौवशक्तितः सादरं सदा" ॥४९७॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
तथा बुद्ध्या करिष्यामि यथा स्यात् सुखमावयोः ॥४९८॥
मिलित्वा विक्रमादित्यभूपतेस्तत्क्षणादहम् ।
तदीयं च द्विपद्यादि गृहीत्वैष्यामि साम्प्रतम् ॥४९९॥
पुरीमध्ये गमिष्याम्यधुना पणभामिनि ! ।
यदा चैत्य त्रियामायां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥५००॥
भवत्यैत्य तदा शीघ्रमुद्घाट्यो झम्पकः शनैः ।
ओमित्युक्ते तया स्तेनोऽचालीद्वेश्यानिकेतनात् ॥५०१॥
स चौरोऽदृश्यकरणविद्यया नगरे भ्रमन् ।
रजकस्य गृहोपान्ते शुश्रावेदं रहो निशि ॥५०२॥
[2]प्रिये ! क्षालयितुं भूपवस्त्राण्यानीतवानहम् ।
दस्योर्भयादधो मौलेर्मुक्त्वा स्वपिमि साम्प्रतम् ॥५०३॥
त्वया सकाले एवाऽहं प्रक्षालयितुमञ्जसा ।
जागृतव्यो न चेत् सद्यः कोपिष्यति महीपतिः ॥५०४॥
श्रुत्वैतत् तस्करश्छन्नं प्रविश्य रजकालये ।
रजकस्य शिरोऽधस्तात् निश्रुकोष च लादिकाम् ॥५०५॥
खरस्योपरि संस्थाप्य तस्करो लादिकां शनैः ।
समेत्य नगरद्वारि द्वाःस्थं प्रति जगावदः ॥५०६॥
उद्घाटयाचिराद् द्वारं वसनानि महीपतेः ।
प्रक्षालयितुमेष्यामि कूपे साम्प्रतमञ्जसा ॥५०७॥

१ कश्चिद् दण्डस्तदा कार्या भवद्भिर्मम निश्चितम्–ग ॥ २ रजकोऽवक् प्रिये ! भूमिपतेर्वसनलादिकाम् । शुद्धीकर्तुं शिरोऽधस्तात् कृत्वा स्वपिमि साम्प्रतम् ॥

द्वाःस्थः प्राह महीशेन प्रोक्तमेतन्ममाग्रतः ।
सूर्योदयं विना नैवोद्घाट्या पुरप्रतोलिका ॥५०८॥
नाहमुद्घाटयिष्यामि ततो रजक ! साम्प्रतम् ।
रजकः प्राह मुक्त्वाऽत्र लादिकां याम्यहं गृहम् ॥५०९॥
प्रातर्महीपतिर्दृष्ट्वा लादिकां पतितामिह ।
लक्ष्म्यपहारतः सद्यस्तव दण्डं करिष्यति ॥५१०॥
तत उद्घाटयामास द्वाःस्थो द्वारं तदा भयाद् ।
रजको लादिकां लात्वा निस्ससार पुराद् बहिः ॥५११॥
रजकस्तस्करो गत्वा रजकस्यांधुसंनिधौ ।
उत्तार्य लादिकां तस्थौ विलोकयन्नितस्ततः ॥५१२॥
इतश्च रजको बुद्धोऽपश्यन् वस्त्राणि भूपतेः ।
प्राहोच्चैर्वसनान्यद्य लात्वा चौरो रहो गतः ॥५१३॥
श्रुत्वा गाढस्वरं तस्य भूपोऽभ्येत्य जगावदः ।
किं किं गतं तव ब्रूहीत्युक्तोऽवग् रजकस्तदा ॥५१४॥

राजन्नहं सम्प्रति तावकीनवस्त्राण्यधस्ताच्छिरसो विधाय ।
सुप्तोऽस्मि यावत्किल धावनार्थं तावद्रहः कश्चिदगाद् गृहीत्वा ॥
भूपः प्रोवाच वक्तव्यं साम्प्रतं न त्वयोच्चकैः ।
गच्छन्तं तं धरिष्यामि लादिकासहितं रहः ॥५१६॥
ततो राजा रहः स्तेनपदेनैवं कृतत्वरः ।
पुरो द्वारि समागत्याप्राक्षीद् द्वाःस्थमिति स्फुटम् ॥५१७॥
अस्मिन् द्वारेऽधुना पुर्या बहिः कोऽपि गतो नवा ।
रजकस्य गमोदन्तं द्वाःपालोऽचीकथत्तदा ॥५१८॥
श्रुत्वैतद्भूपतिः प्राह नूनं स्तेनोऽधुना गतः ।
उद्घाट्याचिराद् द्वारं तस्य पृष्ठौ(ष्ठे) व्रजाम्यहम् ॥५१९॥
द्वारे उद्घाटिते राजा निःसृत्येदं जगौ बहिः ।
यावदहं समेष्यामि धृत्वा चौरमिहाचिरात् ॥५२०॥
दत्त्वा द्वारं दृढं तावत् स्थेयं च जाग्रता त्वया ।
द्वाःस्थः प्राह प्रमाणं मे स्वामिंस्तव वचः स्फुटम्" ॥ यतः-

पत्युः पत्नी प्रभोः पत्तिः गुरोः शिष्यः पितुः सुतः ।
आदेशे संशयं कुर्वन् खण्डयत्यात्मनो व्रतम् ॥५२२॥
कुलशीलगुणोपेतं सत्यधर्मपरायणम् ।
तत्कालाज्ञाकरं भृत्यं राजाऽध्यक्षं च कारयेत् ॥५२३॥

इङ्गिताकारतत्त्वज्ञः प्रियवाक् प्रियदर्शनः ।
सकृदुक्तग्रही दक्षः प्रतीहारः प्रशस्यते" ॥५२४॥
स्थाने स्थाने नृपोऽत्यन्तं विलोकयन्नितस्ततः ।
चचाल रजकस्यान्धुसम्मुखं निर्भयस्तदा ॥५२५॥
कूपोपान्ते समायान्तं भूपं वीक्ष्य मलिम्लुचः ।
उत्पाट्य स्फारमश्मानं कूपमध्ये प्रक्षिप्तवान् ॥५२६॥

शनैरेकतटीभूय तस्थिवांस्तस्करो रहः ।
यतश्च तस्करा नूनमिदक्षाः स्युः स्वभावतः ॥५२७॥
कूपान्तर्धबकं श्रुत्वा निरीक्ष्याग्रे च लादिकाम् ।
राजा दध्यावयं स्तेनो नूनं कूपेऽपतद्भयात् ॥५२८॥

"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताकांक्षा, समं मृत्युभयं द्वयोः" ॥५२९॥
कूपमध्ये प्रविश्याहं कर्षयिष्यामि तस्करम् ।
किं करिष्यत्यधुना स्तेनो मम हस्ते समागतः ॥५३०॥

इति ध्यात्वाऽङ्गिकां देहादुत्तार्य द्विपटीमसिम् ।
मुक्त्वा च तस्करं कूपे निष्कोष्टुं प्राविशन्नृपः ॥५३१॥
इतोऽङ्गिकां परिधाय द्विपटीं चासिमञ्जसा ।
लात्वा तुरगमारुह्य स्तेनो द्वार्येत्य जल्पति ॥५३२॥
द्वारमुद्घाटय द्वाःस्थ ! विक्रमार्कोऽहमागमम् ।
अश्वहेषाश्रुतेर्ज्ञात्वा भूपालागमनं तदा ॥५३३॥

द्वारमुद्घाटयामास प्रतीहारोऽचिरात् तदा ।
प्रविश्य तस्करो मध्ये द्वाःस्थं प्रति जगावदः ॥५३४॥ युग्मम्
बहिर्धर्तुमहं स्तेनं प्रभ्रम्य सर्वतः स्फुटम् ।
अदृष्ट्वाऽऽगां पुनः पश्चाद् गमिष्याम्यधुना गृहम् ॥५३५॥

दत्त्वा द्वारं दृढं स्थेयं त्वया सम्प्रति यत्नतः ।
कदाचित्स समेत्येति जल्पिष्यति छलादिदम् ॥५३६॥
द्वारमुद्घाटय द्वाःस्थ ! विक्रमार्कोऽहमागमम् ।
तदा त्वया मनाग् नैवोद्घाटनीया प्रतोलिका ॥५३७॥
यतः स तस्करः सर्वं पुरे हृत्वा धनं निशि ।
याति कुत्रापि दिवसे तिष्ठति स्म रहः सदा ॥५३८॥
स्वामिन् ! उद्घाटयिष्यामि मनाग् नाहं प्रतोलिकाम् ।
उक्त्वैतद्यत्नतो द्वारं प्रतीहारो ददौ पुनः ॥५३९॥
गत्वा चतुष्पथे मुक्त्वा मुत्कलं तुरगं द्रुतम् ।
स्तेनो लात्वा द्विपद्यादि [1]वेश्यौकोद्वारमीयिवान् ॥५४०॥
पूर्वं विहितसंकेतोद्घाटिते झम्पके सति ।
मध्येगेहं समेत्यावग् [2]वेश्याग्रे चेति तस्करः ॥५४१॥
भूपपार्श्वादिदं वस्तु द्विपद्यादि मयाऽधुना ।
हृत्वाऽत्रानीतमस्त्येव ततोऽवक् पणभामिनी ॥५४२॥

त्वयाऽऽनीतं कथं स्तेनेनेत्युक्ते सद्यो मलिम्लुचः ।
आमूलचूलतो वार्त्तां कथयामास नैशिकीम् ॥५४३॥
श्रुत्वैतद् वेश्यया प्रोक्तं सत्यस्त्वमसि तस्करः ।
भूपसत्कं द्विपद्यादि [3]लात्वाऽत्रागतो रहः ॥५४४॥
यदि ज्ञास्यति भूपालस्त्वामत्र संस्थितं स्फुटम् ।
तदा नो [4]घाणके क्षिप्त्वा पीलयिष्यति तत्क्षणम् ॥५४५॥
यतो रुष्टो नृपः केनचिंच्च [5]वारयितुं क्षमः ।
कल्पान्तकालपाथोधिरिव(मिव) जानीहि तस्कर ! ॥५४६॥
प्राह स्तेनो न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
तथैवाहं करिष्यामि यथा स्यात् सुखमावयोः ॥५४७॥
भवत्यैवं न कर्तव्या विकल्पा मानसे मनाग् ।
भवितव्यं न केनापि गीर्वाणेनापि वार्यते ॥५४८॥
इतो महीपतिः कूपमध्ये प्रस्तरमेककम् ।
स्फारमालोक्य चकितश्चिन्तयामासिवानिति ॥५४९॥

---

१ वेश्याद्वारमुपाययौ–ग । २–स्तेनो वेश्याग्रतो मुदा–ग । ३ खड्गानयनतः खलु–ग । ४ घाणुके–क–ग । ५ वारयितुं न शक्यते–ग ।

प्रस्तरक्षेपदम्भेन स्तेनेनैव दुरात्मना ।
कूपमध्येऽधुना नूनं क्षिप्तोऽस्मि किं करोम्यहम् ॥५५०॥ यतः-
"सुखदुःखानां कर्ता हर्ता च न कोऽपि कस्यचिज्जन्तोः ।
इति चिन्तय सद्बुद्ध्या पुरा कृतं भुज्यते कर्म्म ॥५५१॥
करोमि न करोमीति चैवं किं परितप्यसे ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च विधिरेव समुत्सुकः ॥५५२॥
जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिअ परिणमइ सयललोअस्स ।
इअ जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति ॥५५३॥
कष्टेन निर्गतो कूपमध्याद् भूमीपतिस्तदा ।
अपश्यन् घोटकादीनि दध्यावेवं हृदि स्फुटम् ॥५५४॥
कूपप्रक्षिप्तपाषाणच्छलेन मम सम्प्रति ।
हृत्वाऽश्वद्विपटीखड्गान् जग्मिवांस्तस्करः क्वचित् ॥५५५॥
ततो [1]वसनरिक्ताङ्गो भूपः शीतेन बाधितः ।
पादचारी रयात् द्वारि गत्वा द्वाःस्थमिदं जगौ ॥५५६॥
द्वारमुद्घाटय द्वाःस्थ ! विक्रमार्कोऽहमागमम् ।
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते प्रतीहारो जगावदः ॥५५७॥
रे रे दुष्ट ! दुराचार ! जल्पन् भूपाह्वमात्मनः ।
पुरमध्येऽधुना कूटात् कथं मत्तः प्रविक्ष्यसि ॥५५८॥
राजा प्रोवाच नैवाहं स्तेनोऽस्मि द्वारपालक ! ।
किं त्वस्य नगरस्येशो वाहितो दस्युना छलात् ॥५५९॥
द्वाःस्थोऽवग् रे दुराचार ! मा जल्पैवं पुनः पुनः ।
भिनद्मि मस्तकं स्फारपाषाणेन तवाधुना ॥५६०॥
पूर्वमेवागतः पूर्यां विक्रमार्कनरेश्वरः ।
जल्पँस्त्वमिति रे दुष्ट ! लप्स्यसे [2]दुःखमनर्गलम् ॥५६१॥
वाहितस्तेन चौर्येणेत्येवं मत्वा नृपस्ततः ।
निर्वस्त्रः कृतसन्तोष उपविश्य स्थितो बहिः ॥५६२॥
इतोऽर्कोदयवेलायां नृपौकोद्वारमागतम् ।
भूपपट्टाश्वमालोक्य दध्युरेवं च मन्त्रिणः ॥५६३॥

१ भूपोऽपरावृत्तदेहः शीतेन-ग ॥ २ दु.खमात्मनि-क-ख ॥

किं स्तेनेन हतो भूपः पातितोऽश्वेन किं क्वचित् ।
किं वैरिणा हतः केन किं रोगेणापतद् भुवि ॥५६४॥
इत्यादि भूरिशः कृत्वा विकल्पान् मन्त्रिणो हृदि ।
पुरमध्ये प्रपश्यन्तः पुरद्वारं ययुः क्रमात् ॥५६५॥
पप्रच्छुरिति भो द्वाःस्थ ! किमायातोऽत्र भूपतिः ।
दृष्टः श्रुतोऽथवा गच्छन् कुत्रचिद् भवता निशि ॥५६६॥
भूपं विनाऽधुना राज–लोकः शोकाकुलोऽभवत् ।
स्थाने स्थाने पुरे क्ष्मापो लोकितोऽपि न वीक्षितः ॥५६७॥
राज्यं विसंस्थुलं सर्वं भविष्यति विना नृपम् ।
मेघवृष्टिमृते पृथ्वी कियत्कालं च तिष्ठति ॥५६८॥ यतः–
"राज्यं निःसचिवं गतप्रहरणं सैन्यं विनेत्रं मुखम् ,
वर्षा निर्जलदा धनी च कृपणो भोज्यं तथाऽऽज्यं विना ।
दुःशीला गृहिणी सुहृन्निकृतिमान् राजा प्रतापोज्झितः;
शिष्यो भक्तिविवर्जितो नहि विना धर्मं नरः शस्यते ॥"

आलस्योपहता विद्या परिहासहताः स्त्रियः ।
मन्दबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम् ॥५७०॥
द्वाःस्थः प्राह बहिर्गत्वा चौरमप्राप्य भूपतिः ।
व्याघुट्य च पुरीमध्ये समागान्निशि तत्क्षणात् ॥५७१॥
मन्त्रीश्वरो जगौ राजा नागादागात् तुरङ्गमः ।
तेनैवं जायते क्ष्मापः केनचिन् निहतो निशि ॥५७२॥
द्वाःस्थोऽवग् मनुजः कश्चिद् अत्रैत्यावग् बहिर्निशि ।
अहं राजाऽऽगमं द्वागमुद्घाटयाधुना द्रुतम् ॥५७३॥
मयोक्तं त्वं न भूपालः किन्तु चौरोऽसि दुष्टधीः ।
यद्येवं जल्पसि त्वं च त्वां च हन्म्यश्मना तदा ॥५७४॥
ततः कृत्वा स सन्तोषं गतः पश्चाच्च कुत्रचित् ।
वप्राद् बहिःस्थितो वाऽस्ति सम्यग् जानाम्यहं नहि ॥५७५॥
ततो द्वारं समुद्घाट्य निर्गता मन्त्रिणो बहिः ।
संकोचिततनुं भूपं दृष्ट्वेत्येवं जगुस्तदा ॥५७६॥

स्वामिन्! किमद्य सञ्जाताऽवस्थेदृक्षा कुतस्तव।
राजा निशाभवं वृत्तं कथयामास विस्तरात् ॥५७७॥
ततो द्वाःस्थो जगावेवं पतित्वा नृपतेः पदोः।
स्वामिंस्त्वयाऽपराधो मे क्षन्तव्यो [1]नैशिको द्रुतम् ॥५७८॥
यतो माता पिता भूपः प्रसन्नीभूय तत्क्षणात्।
अपत्यभृत्ययोर्दुष्टं कृतं सुष्ठ्वेव मन्यते ॥५७९॥ यतः—
"[2]जो जस्स वट्टए हिअए सो तं ठावेइ सुन्दरसहावम्।
वग्घीछावं जणणी भद्दं सोमं च मन्नेइ" ॥५८०॥
राजा प्रोवाच भो द्वाःस्थ! भवतो दूषणं नहि।
किन्त्वस्मत्कर्म्मणा ह्येतद् अधुना विहितं ननु ॥५८१॥
उत्तमा ददते दोषं कर्मणः स्वकृतस्य हि।
अधमाः कृतविघ्नस्य पुंसो नैव स्वकर्मणः ॥५८२॥ यतः—
"[3]पत्थरेणाहओ कीवो पत्थरं [4]डक्कुमिच्छइ।
मिगारिओ सरं पप्प सरुप्पत्तिं विमग्गइ ॥५८३॥
ईप्सितं मनसा सर्वं कस्य सम्पद्यते सुखम्।
दैवायत्तं जगत्सर्वं तस्मात् सन्तोषमाचरेत्" ॥५८४॥
ततः क्षणात् समानीतं मन्त्रिभिः पट्टघोटकम्।
आरुरोह नृपो नव्यानीतवेषासिभूषितः ॥५८५॥
लोकाज् ज्ञातनिशावृत्तो भूपोऽमात्यादिसंयुतः।
आजगाम निजावासं पूर्वाद्रिमिव भानुमान् ॥५८६॥
ततः कूपात् द्रुतं वस्त्रलादिकां भृत्यपार्श्वतः।
आनीय रजकस्यादात् धावनार्थं महीपतिः ॥५८७॥
राजा प्रोवाच यः कश्चिद् भवेदेवंविधो नरः।
स सत्त्ववान् महाविद्याधरः सम्भाव्यते ननु ॥५८८॥
कौतुकार्थ्यथवा राज्यं हर्त्तुकामो ममाधुना।
एवं विगोपयामासामात्यादीन् निखिलान् खलु ॥५८९॥

१ साम्प्रतम् द्रु०—ग॥ २ यो यस्य वर्तते हृदये स तं स्थापयति सुन्दरस्वभावम्। व्याघ्रीशावं जननी भद्रं सौम्यं च मन्यते॥ ३ प्रस्तरेणाहतः क्लीबो प्रस्तरं दंशितुमिच्छति। मृगारिकः शरं प्राप्य शरोत्पत्तिं विमार्गयति॥ ४ डक्किमि—**क-ग**।

देवद्वीपे विलोक्येतो नृत्यादि बहु कौतुकम् ।
अग्निवेतालिकोऽभ्येत्य मिलितो मेदिनीपतेः ॥५९०॥
दृष्ट्वा हृष्टो नृपो वह्निवेतालं चागतं जगौ ।
भवानवसरे चात्रागमत् तद् रुचिरं कृतम् ॥५९१॥ यतः–
"धनवृष्टिः कृषिर्धान्यवापौषधमहायिता ।
विद्योद्वाहाश्वगोशिक्षाधर्माद्यवमरे वरम्" ॥५९२॥ यतः—
केनचिद् दस्युना भट्टमात्राद्या सुभटा वराः ।
विगोपिता नरोऽद्यापि वीक्षितो न धृतः पुनः ॥५९३॥
ततः प्राहाग्निवेतालः पुरो भूमीपतेरिति ।
कर्षणीयो मया स्तेनो दिवसत्रयमध्यतः ॥५९४॥
प्रतिज्ञामिति भूपाग्रे कृत्वा वेतालिकोऽग्निकः ।
स्थाने स्थाने पुरीमध्ये धर्तुं भ्राम्यति तस्करम् ॥५९५॥
इतः स्तेनो जगावके ! का का वार्ता पुरे वद ।
वेश्या प्राहाग्निवेतालः कल्ये एवागतो जगौ ॥५९६॥

दुर्धरोऽपि बली स्तेनो यत्र तत्र स्थितोऽपि च ।
कर्षणीयो मयेत्येवं प्रतिज्ञां विदधेऽग्निकः ॥५९७॥
स्थाने स्थाने रहोवृत्त्या वह्निवेनालिकोऽसुरः ।
स्तेनं धर्तुं पुरीमध्ये प्रभाते च भ्रमिष्यति ॥५९८॥
ज्ञानेनात्र स्थितं त्वां च वेतालो यदि वेत्स्यति ।
तदाऽनर्थो महान् भावी ममाशु तत्र निश्चितम् ॥५९९॥
चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि ।
करिष्येऽहं तथा सर्वं यथा वेत्स्यति मां नहि ॥६००॥
इदृक्षं साहसं तस्य वीक्ष्य दध्यौ पणाङ्गना ।
अयं विद्याधरः कोऽपि देवो वा दानवोऽथवा ॥६०१॥
अन्यथा कथमीदृक्षे सङ्कटे पतिते सति ।
साहसं विद्यते दस्योरस्यैवं मानसे स्फुटम् ॥६०२॥
प्रोवाच तस्करो वेश्ये ! गमिष्यामि पुरान्तरे ।
यदैत्याहं त्रियामिन्यां वादयिष्यामि झम्पकम् ॥६०३॥

भवत्याऽऽशु तदागत्योद्घाट्यश्च फलकः शनैः ।
प्राप्ताप्राप्तधनाश्चौराः समेष्यन्ति यतो निशि ॥६०४॥
ओमित्युक्ते तया स्तेनो निःसृत्य तन्निकेतनात् ।
अदृश्यरूपभृद्देहो बभ्राम नगरान्तरे ॥६०५॥
अदृश्यरूपभृद्देहो देवीदत्तप्रसादतः ।
पुरीमध्ये भ्रमन् याति वह्निवेतालिकाग्रतः ॥६०६॥
वेतालस्य करात् खड्गं लात्वा चादृश्यरूपभृत् ।
भूयो भूयः पुरीमध्ये बभ्राम तस्करोऽभितः ॥६०७॥
वह्निवेतालकस्तस्य दस्यो रूपं स्थितिं पुनः ।
तत्पुण्ययोगतो नैव ददर्श ज्ञानतो मनाग् ॥६०८॥
भ्रान्त्वाऽखिले पुरे वह्निवेतालस्य मलिम्लुचः ।
मिलित्वा धूर्तवद् वेश्यासदनं समुपेयिवान् ॥६०९॥
पृष्टो गणिकया स्तेनो वृत्तान्तं निखिलं निजम् ।
आमूलचूलतो वेश्यापुरस्तादुक्तवान् सदा ॥६१०॥

वेश्या दध्यावयं कोपि देवो विद्याधरोऽथवा ।
यस्यैवं विद्यते स्फूर्तिश्चमत्कारकरी भृशम् ॥६११॥
जर्जरीभूतदेहश्रीर्वह्निवेतालिकोऽसुरः ।[1]
चतुर्थदिवसे दीनो भूपपार्श्वे जगावदः ॥६१२॥
यश्चौरः कुरुते स्तैन्यं सोऽथ विद्याधरोऽसुरः ।
केषामपि वशं नैव समेष्यतीति मे मतिः ॥६१३॥
तस्य पुण्यवतः पुण्यं विद्यते जगदुत्तमम् ।
येन केषां वशं नैति तस्करो मरुतामपि ॥६१४॥
राजा प्रोवाच यः कश्चिद् भवेदेवंविधो नरः ।
स केषामपि भृत्यानां भूतानां मरुतामपि ॥६१५॥
दर्शयिष्यति न स्वीयं रूपं स्तेनः स धूर्तराट् ।
मिलिष्यति सुकुमालवृत्त्या चेति मतिर्मम ॥६१६॥
[2]तेनाद्य पटहः पुर्यां वाद्यते सर्वतो नरैः ।
यः कश्चित् पटहं स्पृष्ट्वा कर्षयिष्यति तस्करम् ॥६१७॥

१ देहस्य कर्हिचित्-ग । २ मनुजोऽन्यो वाऽभ्येत्य तं स्पृशति स्म च-ग ।

तस्य राज्यार्द्धदानेन पूर्यते तन्मनोरथः।
यतो नैति शये स्तेनः पटहोद्घोषणं विना ॥६१८॥
श्रुत्वैतन्मन्त्रिणः प्रोचुरेवं भवतु सम्प्रति।
यतः स तस्करोऽतीव छलवान् विद्यतेऽनघः ॥६१९॥
इदानीं पटहोद्घोषः क्रियते स्वामिनोदितः।
यत एवंविधे कार्ये वाद्यते पटहो नृपैः ॥६२०॥
ततो महीधवादिष्टैर्गत्वा[2] पुर्यामिति स्फुटम्।
मन्त्रिभिः सर्वतः पुर्यां वाद्यते पटहः क्रमात् ॥६२१॥
यः कश्चित्पटहस्पर्शं कुरुते मनुजोऽधुना।
तं च राज्यार्द्धदानेन भूपः सन्मानयिष्यति ॥६२२॥
ततश्चौरो जगौ वेश्ये ! का वार्ताऽस्ति पुरान्तरे।
पटहोद्घोषवृत्तान्तं तस्याग्रेऽवक् पणाङ्गना ॥६२३॥
चौरोऽवक् पणवामाक्षि ! स्पृशाद्य पटहं द्रुतम्।
समेष्यत्यर्द्धराज्यादिलक्ष्मीः स्वीयगृहे यतः ॥६२४॥

वेश्या प्राह महीशानां व्यवहारोऽस्ति दुःशकः।
कदाचिन्नेष्य(च्छ)ति स्वीयकृतं मेलो(लामे)ऽधुना यदि ॥
तदाऽऽत्मीयामिमां लक्ष्मीं बहुकालार्जितां किल।
हरिष्यति महीपालो यतः स्वीया न भूभुजः ॥६२६॥ यतः–
"काके शौच द्यूतकारे च सत्यं,
सर्प्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता;
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा" ॥६२७॥
तस्करोऽवग् भवत्याऽत्र न भेतव्यं मनागपि।
गत्वा स्पृशाशु पटहं सर्वं चारु भविष्यति ॥६२८॥
राजपथ्येत्य पण्यस्त्री स्पृष्ट्वा च पटहं द्रुतम्।
आजगाम निजं स्थानं स्तेनाग्रे चाखिलं जगौ ॥६२९॥
इतः श्रुत्वा नृपो वेश्यापटहस्पर्शनं तदा।
आकार्य सचिवान् प्राह भट्टमात्रादिकान् स्फुटम् ॥६३०॥

१ नूनं सम्भाव्यतेऽस्माकं वंशजातोऽथवा पुमान्–ग। २ जल्पनैकपरैस्तदा–ग।

कथं प्रदास्यते तस्यै राज्यार्द्धं पण्ययोषिते ।
ततो मन्त्रीश्वराः प्रोचुः राजन् ! किं हृदि खिद्यसे ॥६३१॥
स्वगृहे प्रथमं सर्वं भूषणादि समेष्यति ।
चटिष्यति शये स्तेन आत्मीये दुःशकोऽपि मः ॥६३२॥
सुखिनीं जनतां कृत्वा दुष्टतस्करनिग्रहात् ।
कार्यः पाणिग्रहः पश्चात् तस्या अपि पणस्त्रियाः ॥६३३॥
एवं राज्यार्द्धमात्मीयमत्रान्येव भविष्यति ।
राजाऽवक् क्रियते हीनजातेः किं पाणिपीडनम् ॥६३४॥
मन्त्रिणो धीधनाः प्रोचुः हीनजातेरपि स्त्रियः ।
कुर्वतां भूभुजां पाणिग्रहं दोषो न विद्यते ॥६३५॥ यतः—
"विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम् ।
अधमादुत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" ॥६३६॥
एवमस्त्विति भूपोक्ते मन्त्रिणस्तत्क्षणात्तदा ।
तस्या आकारणार्थं वाऽप्रेषयन् निजसेवकान् ॥६३७॥

गत्वा ते सेवकाः प्रोचुः पण्यनारीनिकेतने ।
आगच्छ गणिके ! भूपपार्श्वे चार्प्पय तस्करम् ॥६३८॥
गत्वा गृहान्तरे वेश्या सुप्तं स्तेनं जगावदः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भूपालभृत्या एयुर्निजालये ॥६३९॥
स्तेनः प्राह प्रतीक्षस्व क्षणमेकं पुराङ्गने ।
यतोऽधुना समायाति प्रमीला सुखकारिणी ॥६४०॥
वेश्यावक् पटहस्पर्शं कारयित्वाऽधुना पुन;
सुप्तोऽसि त्वं सुनिश्चिन्तः किं ते भीतिर्न भूपतेः ॥६४१॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते मध्याह्ने तस्करः शनैः ।
उत्थाय गणिकां प्राह त्वमागच्छ मया सह ॥६४२॥
वेश्या प्रोवाच गच्छ त्वं किं मां च सङ्कटे क्षिप ।
हुं ज्ञातमीदृशा मर्त्या क्षिपन्त्याश्रितमापदि ॥६४३॥
"वृश्चिकानां भुजङ्गानां दुर्जनानां च वेधसा ।
विभज्य नियतं न्यस्तं विषं पुच्छे मुखे हृदि ॥६४४॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्प्पः किमसौ न भयङ्करः ॥६४५॥
यथा गजपतिः श्रान्तश्छायार्थी वृक्षमाश्रितः।
विश्रम्य तं द्रुमं हन्ति तथा नीचः स्वमाश्रयम्" ॥६४६॥

चौरः प्राह न भेतव्यं भवत्याऽत्र मनागपि।
त्वमागच्छ मया सार्द्धं श्रेयस्तव भविष्यति ॥६४७॥
तथा सा साहसं कृत्वा वेश्या प्राहेति तं प्रति।
त्वं धन्योऽसि कृतार्थोऽसि यस्येदृक्षं च साहसम् ॥६४८॥

परिधाय महीशस्य द्विपटीं करवालकम्।
स्कन्धे कृत्वाऽचलद् वेश्याभूपभूषणसंयुतः ॥६४९॥
तदा राजपथे स्तेनं द्रष्टुं सर्वपुरीजनः।
कार्यं निजं निजं मुक्त्वा समायाति स्म वेगतः ॥६५०॥
स्तेनं लावण्ययुग्देहं दृष्ट्वा केऽपि जना जगुः।

१ ततः प्रहृष्टचित्ता सा–ग। २ समागच्छति–ग।

अहो अस्य समायातोऽकाण्डे कालसमागमः ॥६५१॥
केऽपि जल्पन्ति भूपालो मानमस्य प्रदास्यति।
केऽपि प्रोचुः ममायाता वेश्याया अपि आपदः ॥६५२॥

इत्यादि जल्पनं शृण्वन् लोकानां स मलिम्लुचः।
निर्भयो मेदिनीनाथमसमीपे समुपेयिवान् ॥६५३॥
भूपतेः पुरतो मुक्त्वाऽऽभरणादीनि तस्करः।
ननाम भक्तितो भूपक्रमयुग्मसरोरुहम् ॥६५४॥

भूपोऽवग् स्तेन! कोऽसि त्वं कुतः स्थानादिहागमः।
किमर्थं कस्य पुत्रोऽसि ततः स्तेनो जगावदः ॥६५५॥
स्मरन्नपि भवान् सप्त पूर्वान् देवो निजान् नृपः।
विदेशादागतं नैव कथं मामुपलक्षसि ॥६५६॥
प्रतिष्ठानपुरात् श्रीमत्–शालवाहनभूपतेः।
नन्दिन्याः सूनुरधुना पितरं नन्तुमीयिवान् ॥६५७॥

राजा दध्यौ[1] मया तत्र मुक्ता या गर्भयुक् प्रिया ।
तया यो जनितः सूनुः सोऽयमत्रागतो ध्रुवम् ॥६५८॥
एवं ध्यात्वा महीपालः समुत्थायासनात्तदा ।
सुतमालिङ्ग्य तस्याशु ददावर्द्धासनं मुदा ॥६५९॥
सर्वे मन्त्र्यादयः प्रोचुरेवं कर्तुं न युज्यते ।
चौरस्य क्रियते दण्डो न सन्मानं च केनचित् ॥६६०॥
एष धूर्तो महाचौरो एवं प्रोक्त्वा छलात्स्फुटम् ।
त्वामेव कुरुते स्नेहवशं तत्तत्प्रजल्पनात् ॥६६१॥
मन्त्रिपृष्टोऽप्राक्षीत्(वादीत्) ममायं च तनूभवः ।
सुकोमलाप्रियाकुक्षिजन्मा साहसिकाग्रणीः ॥६६२॥
नानाचरित्रकरणात् विक्रमार्कमहीपतिः ।
विक्रमचरित्र इति सूनोर्नाम ददौ तदा ॥६६३॥
राजा पुत्रागमाद् हृष्टो वेश्यायै नगराष्टकम् ।
सन्मानपूर्वकं दत्त्वा व्यसृजत्पणभामिनीम् ॥६६४॥
तदा मुख्याश्वतस्तोऽपि कालीं वेश्यां महीभुजा ।
मानीतां वीक्ष्य कृष्णास्या बभूवुर्दुःखिता भृशम् ॥६६५॥
राजा प्राह कथं पुत्र ! त्वयेदं मुषितं पुरम् ।
अहं चात्र स्थितो ज्ञातो वद पुत्राथ सोऽवदत् ॥६६६॥
मम मातुर्गृहे भारवट्टे श्लोकद्वयेक्षणात् ।
तात ! तत्र स्थितिर्ज्ञाता मयाऽत्र नगरे स्फुटम् ॥६६७॥
कृत्वा च कपटं तावत् त्वया माता मम ध्रुवम् ।
परिणीता छलात् तत्र मुक्त्वा चात्र समागमः ॥६६८॥
अतो विभूषणादीनि लात्वा छलात् तवालयात् ।
तलारक्षादिकानेवमशिक्षयं च कौतुकात् ॥६६९॥
विद्याऽवधियुता देव्या या दत्ताऽस्ति पुरा मम ।
साऽतः परं स्थिता पूर्वं प्रतिज्ञादिविधानतः ॥६७०॥ यतः–

१ दध्यावयं पुत्रो मदीयो मम संनिभः। उत्पाद्य यो मया गर्भस्तत्र मुक्तः स एव हि–ग।

"फड्डा य असंखिज्जा संखिज्जे आवि एगजीवस्स ।
एगफड्डुवओगे निअमा सव्वत्थ उवउत्तो ।।६७१।।
फड्डा य आणुगामी अणाणुगामी अ मीसगा चेव ।
पडिवाई अपडिवाई मीसा य मणुअतिरिच्छे" ।।६७२।।
देवीप्रदत्तविद्याया बलेन स्वधिया पुनः ।
अवदाता कृता एते मया तात ! वृषोदयात् ।।६७३।।

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालङ्कारपरमगुरुश्रीमुनिसुन्दरसूरिशिष्यपण्डितश्रीशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरिते विक्रमचरित्रजन्म—तस्यावदातकरण--पितृमिलनादिवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥

पञ्चमः सर्गः ।

अथ राजा जगौ पुत्रोत्तिष्ठ त्वं कुरु भोजनम् ।
सूनुः प्राह जनन्यग्रे प्रतिज्ञेति मया कृता ।।१।।
मिलनादनु तातस्य प्रतिष्ठानपुराध्वनि ।
स्थित्वा त्वत्पादनुत्यर्थं पातव्यं सलिलं मया ।।२।।
सूनोरेतद् वचः श्रुत्वा दध्यावेवं नृपो हृदि ।
अहो ! पुत्रस्य कौशल्यं भक्तिः पित्रोश्च सुन्दरा ।।३।।
"प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रो,
यद् भर्तुरेव हितमिच्छति तत् कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ।।४।।
दीपाः स्थितं वस्तु विभासयन्ति, कुलप्रदीपास्तु पुनर्नवीनाः ।
चिरं व्यतीतानपि पूर्वजान् ये, प्रकाशयन्ति स्वगुणप्रकर्षात् ।।

१ फड्डकान्यसंख्येयानि संख्येयानि चाप्येकजीवस्य । एकफड्डुकोपयोगे नियमात् सर्वत्रोपयुक्तः ।। फड्डकानि चानुगामीन्यनानुगामीनि मिश्राणि चैव । प्रतिपातीन्यप्रतिपातीनि च मनुष्यतिर्यक्षु ।।

शर्वरीदीपकश्चन्द्रः प्रभाते रविदीपकः ।
त्रैलोक्यदीपको धर्म्मः सुपुत्रः कुलदीपकः" ॥६॥
पुत्रः प्राह प्रतिष्ठानपुरे तात ! सुकोमलाम् ।
परिणीय छलादत्रागतोऽसि त्वं च यत्पुरा ॥७॥
तेन सामन्तमन्त्रीशगणिकादिविगोपनम् ।
तद्वैरवालनकृते मयैतद् विहितं किल ॥८॥
राजा प्रोवाच धिग् धिग् मां यत् परिणीय सा प्रिया ।
तत्रोज्झिता च नो सारा (चारु) चक्रे छद्मव्रता मया ॥९॥
पुत्रोऽवक् तात ! तव नो दूषणं कर्म्मणः पुनः ।
यतः पुरा कृतं कर्म भुञ्जन्ते निखिलाङ्गिनः ॥१०॥
एवमुक्त्वा पितुः पादौ प्रणम्य भक्तितः सुतः ।
प्रतिष्ठानपुरीमार्गे स्थित्वा चकार भोजनम् ॥११॥
ततश्चलन् द्रुतं श्रीमान् विक्रमार्कतनूद्भवः ।
जनन्या मानसे मोदं चकार स्वागमाद् भृशम् ॥१२॥

भक्त्या मातुः पदौ नत्वा कथयामास वैक्रमः ।
स्वरूपं पितृमिलनप्रान्तमामूलचूलतः ॥१३॥
सालवाहनभूपस्य प्रणम्य चरणौ सुतः ।
गृहीत्वा मातरं सद्योऽवन्तीपार्श्वे समागमत् ॥१४॥
भार्यापुत्रागमं श्रुत्वा बहिरागत्य तत्क्षणात् ।
सन्महं कारयामास पुःप्रवेशं तयोर्नृपः ॥१५॥
सप्तभूमिकमावासं दत्त्वा पत्न्ये तदा मुदा ।
विक्रमार्कः सुखं लोकात् शशास न्यायवर्त्मना ॥१६॥
सर्वोत्कृष्टेऽन्यदा घस्रे सन्मुहूर्त्ते सुखप्रदे ।
आकार्य तक्षकं सिद्धविद्यं सन्मानपूर्वकम् ॥१७॥
कीरकाष्ठमयं रत्नजटितं सिंहविष्टरम् ।
भूपतिः कारयामास स्फारं सद्यो मनोरमम् ॥१८॥
कीरकाष्ठमया रत्नखचिताः शालभञ्जिकाः ।
द्वात्रिंशद् (शतं) योजयामास तस्मिन् सिंहासने नृपः ॥१९॥

द्वात्रिंशता सुरीभिस्तत् सिंहासनमधिष्ठितम् ।
वर्यकाष्ठमुहूर्तादिनिष्पन्नत्वात् स्फुरद्युति ॥२०॥
किं त्वामत्रेन तुष्टेन साहसादस्य भूपतेः ।
आनीयेदं वरं सिंहासनं सुरीश्रितं ददे ॥२१॥
इत्यादि बहुभिर्विज्ञैर्वर्णना विहिता क्रमात् ।
तथा ख्यातिमगाल्लोके यथाऽद्याऽपि हि विद्यते ॥ (युग्मम्)
अन्यदा योगिराट् कश्चित् प्रतीहारनिवेदितः ।
भूपोपान्ते समागत्य डुढौके बीजपूरकम् ॥२३॥
एवं वर्षावधि प्रातर्बीजपूराणि भूरिशः ।
डुढौके भूपतेरग्रे योगिराट् सततं तदा ॥२४॥
राज्ञो हस्तात् समादाय फलमेकं च मर्कटः ।
बुभुजे यावता तावत् रत्नमेकं च निर्गतम् ॥२५॥
तादृक्षं मणिमालोक्य पप्रच्छ योगिनं नृपः ।
किमर्थं प्राभृतं चक्रे त्वया त्वं वद योगिराट् ॥२६॥

योगी प्राह मया वर्षावधि च प्राभृतं कृतम् ।
कोशाध्यक्षान्तिकाद् राज्ञा[1] फलान्यानायितान्यथ ॥२७॥
बहिः कृतान् मणीन् दृष्ट्वा राजा प्राह प्रमोदितः ।
किमर्थं प्राभृतं चक्रे त्वया योगी ततो जगौ ॥२८॥
"रिक्तपाणिर्न पश्येत(च) राजानं देवतां गुरुम् ।
उपाध्यायं च वैद्यं च फलेन फलमादिशेत् ॥२९॥
उपकारः कृतो नृणां जायते सुखहेतवे ।
सात्त्विकप्रार्थनाभङ्गः क्रियते न सता नृणाम् ॥३०॥ यतः—
"क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारबद्धादराः,
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाडवोः
जीमूतस्तु निदाघतापितजगत्सन्तापविच्छित्तये ॥३१॥
लच्छी[2] सहावचवला तओ वि चवलं (च) जीविअं होइ ।
भावो उ तओ चवलो उवयारविलंबणं कीस ॥३२॥"

१ राजा फलान्यानीतवाँस्तदा ग । २ लक्ष्मीः स्वभावचपला ततोऽपि चपलं च जीवितं भवति । भावस्तु ततश्चपल उपकारविलम्बनं कस्मात् ॥

एवं योगिवचः श्रुत्वा प्रोवाच मेदिनीपतिः।
योगिन्! यद् विद्यते कार्यं ब्रूहि तत् त्वं ममाग्रतः ॥३३॥
योगी जगाद भूपाल! साहसेन शरीरिणाम्।
दुःशकाऽपि भवेत् कार्यसिद्धिः सुखकरा द्रुतम् ॥३४॥ यतः—
"विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्याजौ रामः सकलमवधीत् राक्षसकुलम्;
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥३५॥
रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः,
निरालंबो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः;
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥३६॥
राजन्! काचिन्मया पूर्वं प्रारब्धा मन्त्रसाधना।
उत्तरसाधकस्तस्यां भव त्वं सात्त्विकाग्रणीः ॥३७॥

प्रतिपद्य वचस्तस्य राजा योगिसमन्वितः।
ययौ वनान्तरे रात्रौ निर्भयोऽसिसखा रहः ॥३८॥ यतः—
"एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते" ॥३९॥
वृक्षशाखानिबद्धं च शवं स योगिराट् तदा।
आनेतुं च महीपालं प्रेषयामास दुष्टधीः ॥४०॥
अग्निकुण्डं ज्वलज्ज्वालं कृत्वा खदिरदारुभिः।
योगी कर्तुं क्रियां ध्यानपरस्तत्राभवत् तदा ॥४१॥
भूपस्तस्मिंस्तरौ गत्वाऽऽरुह्य तन्मृतकं यदा।
छित्त्वा च पातयित्वाऽऽशु भूमावुत्तीर्णवान् स्फुटम् ॥४२॥
तावत्तन्मृतकं वृक्षे चटितं वीक्ष्य भूपतिः।
आरूढः पादपं भूयः शवस्य ग्रहणेच्छया ॥४३॥
कष्टं वीक्ष्य तदा भूमीपतेर्वैतालिकोऽग्निकः।
आश्रित्य मृतकं प्राह मेदिनीनायकं प्रति ॥४४॥

१ पूर्ववच्छित्त्वोर्ध्वंगतं शवम् ग।

"गीतशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन हि मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा" ॥४५॥
तेनेह श्रूयतां काचित् कथ्यमाना कथा मया ।
राजाऽवक् कथ्यतामग्रे पुरातनीं कथां शव ! ॥४६॥
शवः प्राहाधुना सावधानीभूय महीपते ! ।
कथ्यमानां कथां मद्यो मया शृणु पुरातनीम् ॥४७॥
अत्र वेतालपञ्चविंशतिका अवतार्या ।
ज्ञात्वा भूमीपतेः कष्टं पञ्चविंश(त्या)कथानकैः ।
अतिवाह्य निशां शेषां वेतालोऽवग् नृपं प्रति ॥४८॥
राजन्नयं छली योगी त्वां बलिं पुरुषोत्तमम् ।
विधायाद्य चिकीरस्ति सद्यः काञ्चनपौरुषम् ॥४९॥
अतोऽस्य योगिनस्त्वं हि मा विश्वासं कृथा नृप ! ।
दुरात्माऽयं छली योगी विद्यतेऽधर्मशेखरः ॥५०॥ यतः—
"मायोपकृतमेतस्य वक्रस्येति न विश्वसेत् ।
दत्ताक्षरोऽपि दुष्टाहिदुर्जनो दशति द्रुतम् ॥५१॥
तस्यैव योगिनो मन्त्रान् दुष्टान् प्रजपतः पुरः ।
शक्येत न मया गन्तुं तेन तत्र त्वकं व्रज ॥५२॥
एतच्चाकर्ण्य भूपेन चित्तेऽचिन्ति सविस्मयम् ।
अहो दुष्टधियो जन्म हारयन्ति खला मुधा ॥५३॥ यतः–
"एकजन्मकृते मूढा कुर्वन्ति छलमन्वहम् ।
हारयन्ति भवान् लक्षं लीलया दुष्टमानसाः ॥५४॥
शमेन परिगृह्यते सुकृतमज्जनः मज्जनः,
शठस्तु हठकर्म्मणा लुठति पादपीठे चिरम् ।
पयो हि भुजगः पिबन् गरलमुद्गिरेत् केवलम् ,
महौषधिवशात्पुनः कमलबालनालायते" ॥५५॥
किंनामाहो छली योगी करिष्यति तदा मम ।
अहं चापि करिष्यामि तदानीं समयोचितम् ॥५६॥ यतः–

१ विद्यया यः सिसाधयिषुरस्ति काञ्चन–ग ।

"अतीतं नैव शोचन्ति भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः" ॥५७॥
एवमुक्त्वा शवं स्कन्धे कृत्वा विक्रमभानुमान् ।
मुमोच योगिराट्पार्श्वे योगीशो मुमुदे तदा ॥५८॥
योगी प्राह शिखाबन्धं करोमि तव भूपते ! ।
यतो न जायते विघ्नं मम होमं वितन्वतः ॥५९॥
राक्षसव्यन्तरप्रेतभूतदैत्यादयः पुनः ।
केऽपि तवापि नो विघ्नं कर्तुमीशा मनागपि ॥६०॥
अंगरक्षां यतो विद्यासाधका धुरि कुर्वते ।
ततः समीहितं सर्वं तेषां भवति निश्चितम् ॥६१॥
एवमुक्त्वा शिखाबन्धं कर्त्तुं योगी महीपतेः ।
सामग्रीमानयामास निखिलां दुष्टमानसः ॥६२॥
शिखाबन्धं महीशस्य मस्तकोपरि तत्क्षणात् ।
विधाय योगिराड् दुष्टो मानसे मुमुदेतराम् ॥६३॥
राजा दध्यावयं दुष्टः पाखण्डी विद्यते स्फुटम् ।
मया तथा विधातव्यं यथा शर्म भवेन्मम ॥६४॥
यावद् योगी नृपं वह्निकुण्डे क्षिपति दुष्टधीः ।
तावद् भूपोऽग्निवेतालवचःस्मृतिपरोऽभवत् ॥६५॥
अहो ! दुरात्मनाऽनेनेदानीं स्वोदरपूर्त्तये ।
किमेवं मण्डिता पापप्रपञ्चरचनाऽधमा ॥६६॥
आहुतेः समये वह्निकुण्डे तं योगिनं बलिम् ।
कृत्वा भूमीपतिः स्वर्णमयं मर्त्यमसाधयत् ॥६७॥
प्रत्यक्षीभूय गाङ्गेयनराधिष्ठायकः सुरः ।
तत्प्रभावं प्रकाश्याथ राज्ञे शीघ्रं तिरोदधे ॥६८॥ यतः—
"[1]धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो" ॥६९॥

१ धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टं अहिंसा संयमस्तपः । देवा अपि नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ॥

जइ[1] वि हु विसमो कालो विसमा देसा निवाइया विसमा ।
तह वि हु धम्मपराणं सिज्झइ कज्जं न संदेहो ॥७०॥
इतोऽप्रेक्ष्य नृपो मन्त्रीश्वरा द्रष्टुं दिशो दिशि ।
पुरान्निर्गत्य भूपान्तेऽभ्येत्य चेति जगुः स्फुटम् ॥७१॥
किमर्थं[2] केनचित् स्वामिंस्त्वमानीतोऽत्र कानने ।
अयं स्वर्णनरो जातः कथं तत्र महीपते ? ॥७२॥
ततः स नरपोऽशेषं वृत्तान्तं योगिनिर्मितम् ।
कथयामास मन्त्रीशलोकानां पुरतस्तदा ॥७३॥
कुण्डादादाय भूपालः सद्यः कनकपूरुषम् ।
महेन महता पुर्यां प्रविवेशोदये रवेः ॥७४॥
मन्त्रीश्वरा जगुः स्वामिन् ! परद्रोहः कृतोऽङ्गिना ।
अनर्थाय भवत्येव तस्येह च न संशयः ॥७५॥ यतः —
आत्मनः कुशलाकाङ्क्षी परद्रोहं न चिन्तयेत् ।
स्थविरायै कृतो द्रोहो वध्वा एवापतद्यतः ॥७६॥
वीरश्रेष्ठि-स्थविरमातृ-पुत्रभार्याकथा वाच्या । तथाहि—
चन्द्रपुरेऽभवच्छ्रेष्ठी वीरो वीरमती प्रिया ।
विपन्नभर्तृका माता जयेत्याह्वाऽभवत् पुनः ॥७७॥
क्रमात्पुत्रो वधूश्चापि तस्या भक्तिं न चक्रतुः ।
तेनातीव मनोमध्ये दुःखेन पीड्यते भृशम् ॥७८॥

स्थविराकथा । यतः—

"आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलाभाच्च नराधमानाम् ।
आगेहकर्मैव तु मध्यमानामाजीवितात् तीर्थमिवोत्तमानाम् ॥
जातापत्या पतिं द्वेष्टि कृतदारस्तु मातरम् ।
कृतार्थः स्वामिनं द्वेष्टि जितरोगश्चिकित्सकम्" ॥८०॥
सर्वत्र स्वेच्छया वीरमती भ्रमितुमन्वहम् ।
जिघांसति रहः श्वश्रूं पापात्मा वक्रमानसा ॥८१॥

---

१ यद्यपि खलु विषमः कालो विषमा देशा नृपादिका विषमाः । तथापि खलु धर्मपराणां सिद्ध्यति कार्यं न सन्देहः ।

२ योगी स क्व गतो येन त्वमानीतोऽत्र कानने—ग ।

एकदा पर्वणि क्वापि श्वश्रूः प्राह वधूं प्रति ।
वत्से गत्वाऽऽपणे काष्ठगोधूमानानयाचिरात् ॥८२॥
पक्वान्न-मण्डकादीनि करिष्यन्ते प्रगे वधु ! ।
गत्वा हट्टे [1]स्नुषा प्राह दूनेति गद्गदस्वरम् ॥८३॥ (युग्मम्)
जरारोगातुरा माता तव काष्ठानि याचते ।
श्रुत्वैतद् वीरमश्चिन्ताहतोऽभ्येत्य गृहं जगौ ॥८४॥
मातस्त्वं याचसे काष्ठभक्षणं [2]कथमत्र हे ।
भविष्यामि कथंकार[3]महं त्वां तु विनाऽधुना ॥८५॥
माता दध्यौ स्फुटं वध्वा गदितं छद्मवाक्यतः ।
एवं प्रभाषते पुत्रो ममोपरि न साम्प्रतम् ॥८६॥
यथा तथा छलाद्धन्तुकामेयं मां वधूः सदा ।
हनिष्यति ततः काष्ठभक्षणं क्रि[4]यते मया ॥८७॥
तस्माद् वधूदितं वाक्यमहमेवं समर्थये ।
ध्यात्वेति सा जगौ पुत्र ! देहि काष्ठानि मेऽधुना ॥८८॥

नगराद् दूरतो नद्यां काष्ठभक्षाकृते चिता ।
कृता वधूतनयाभ्यां काष्ठान्यानीय तत्क्षणात् ॥८९॥
स्थविराविहिताऽशेषकाष्ठभक्षणकृत् क्रिया ।
विसृज्य स्वजनान् रात्रौ तटिन्यां समुपागमत् ॥९०॥
चितां प्रदक्षिणीकृत्य प्रविष्टाऽम्बा च यावता ।
तावद् वीरकराद् वह्निः सद्यः शान्तिमुपागमत् ॥९१॥
वीरः प्राह प्रिये ! वह्निमानेतुं याम्यहं पुरि ।
स्थातव्यं च त्वया तावद् यावद्वह्निं समानये ॥९२॥
वह्निं नेतुं गते वीरेऽन्यत्रास्थात् सभया वधूः ।
वृद्धा दध्यौ मुधाऽऽत्मानं क एनं हन्ति मुग्धधीः ॥९३॥
विमृश्येति शनैस्तस्या मध्यान्निःसृत्य तत्क्षणात् ।
स्वाकारं तत्र क्षिप्त्वा च वृ[5]द्धोपान्ततरौ ययौ ॥९४॥
वृद्धा तु तरुमारूढा यावत् तावदगात्सुतः ।
प्रज्वाल्य च चितां सद्यः समागात् स्वनिकेतने ॥९५॥

१ वधूः प्रा-ग । २ भवति ! कथम्-ग । ३ मातस्त्वां च वि-ग । ४ विद्यते परं-ग । ५ वृद्धाऽऽसन्नत-ग ।

वधूवरौ ततः सुप्तौ निश्चिन्तौ दिवसात्यये ।
तस्यामेव निशीथिन्यां तदा केचन तस्कराः ॥९६॥
प्रविश्य श्रीपुरे श्राद्धश्रेष्ठिनः सदने रहः ।
भङ्क्त्वा पेटां च तन्मध्याद् भूषणादि ललुर्बहु ॥९७॥ युग्मम्
[1]वलन्तः पादपस्याधस्तस्यैत्य नगगत्ततः ।
आनीय वह्निमुद्योतं कुर्वन्ति स्म मलिम्लुचाः ॥९८॥
विभक्तुं तस्करास्तत्रोपविष्टा यावता लघु ।
कर्षयित्वा लसत्पट्टकूलभूषणमक्षयम् ॥९९॥
समुत्पन्नमतिस्तावद् वृद्धा मुत्कलवालका ।
प्सामि प्सामीति जल्पन्त्यवा (व)ततार तरोस्तदा ॥१००॥
'पिशाची राक्षसी'त्येवं मन्वानास्ते मलिम्लुचाः ।
बिभ्यतस्तत् समं वस्तु मुक्त्वा ययुर्दिशो दिशम् ॥१०१॥
दुकूलाभरणादीनि परी(रि)धाय तदा क्रमात् ।
चचाल स्वगृहे गन्तुं ज्यायसी मुदिताशया ॥१०२॥

आयान्तीं जननीं दृष्ट्वा वीरमो गृहीणीयुतः ।
उत्थाय विस्मितस्तस्या मिलितश्च जगाविदः ॥१०३॥
मातस्त्वया कथं लब्धा विभूतिरीदृशी वद ।
माता प्रोवाच मत्त्वेन मृताऽहं स्वर्गमागमम् ॥१०४॥
मत्साहसेन सन्तुष्टः सुरेन्द्रः सद्विभूतिना ।
सन्मान्य मां दिवो भूमौ प्रेषयामास वेगतः ॥१०५॥
वधूः प्राह ततः श्वश्रु ! काष्ठानि तरुणी यदि ।
प्साति तदा कथं शक्रः सन्मानयति तां वद ॥१०६॥
श्वश्रूः प्राह ततो मत्तोऽष्टगुणैर्भूषणैर्वरैः ।
वामवस्तरुणीं सद्यः सन्मानयति च स्नुषे ! ॥१०७॥
आकर्ण्यैतद् वधूः प्राह प्सामि काष्ठान्यहं पुनः ।
स्थविराावचमाऽचालीत् काष्ठान्यत्तु वधूटिका ॥१०८॥
मार्द्धं गत्वा स्वयं वृद्धा लात्वा वैश्वानरं पुनः ।
काष्ठानि प्रददौ वध्वा स्थविरा विधिवत्तदा ॥१०९॥

---

[1] चलन्तः ग।

द्वितीये दिवसे भार्याऽऽगमनं वीक्षते वणिग् ।
भूयो भूयस्ततो वृद्धा प्राहेति तनयं प्रति ॥११०॥
वत्स ! मृतैर्मनुष्यैर्नागम्यते कुत्रचित् कदा ।
वीरो जगौ कथं मातरेवं वदसि साम्प्रतम् ॥१११॥
माता स्वीयं स्वरूपं च प्रकाश्य निखिलं तदा ।
प्राह शोको न कर्त्तव्यो मृता आयान्ति नो कदा ॥११२॥यतः
ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः ।
गतं गतं नैव च सन्निवर्त्तते जलं नदीनां च नृणां च जीवितम् ॥
आनीतया श्रिया पुत्रमन्यां कन्यां मनोरमाम् ।
परिणाय्याभवद् बाढं सुखिनी स्थविरा चिरम् ॥११४॥
चिन्त्येते यत् परस्यैव रुचिरारुचिरे पुनः ।
तदेव सहसा तस्य समायाति न संशयः ॥११५॥
इति स्थविरा कथा ॥
ज्ञातृत्वं प्रवरं केषु केषु मतेषु साम्प्रतम् ।
ध्यात्वेति विक्रमादित्योऽशृणोत् काव्यानि धीमताम् ॥११६॥
येषां यादृंशि काव्यानि शृणोति स महीपतिः ।
तेभ्यो ज्ञेभ्यस्तदा दानं दापयामास मोदतः ॥११७॥
श्रुत्वेति नृमुखात् सिद्धसेनसूरीश्वरस्तदा ।
कर्तुं प्रभावनां चेतः कुरुते जिनशासने ॥११८॥
वृद्धवादिगुरोः शिष्यः सिद्धसेनोऽन्यदा वहन् ।
'सर्वज्ञसूनु'बिरुदं विजहार महीतले ॥११९॥
विहरन् भूतले सिद्धसेनसूरीश्वरस्तदा ।
अबोधयद् बहून् भव्यजनान् धर्मं जिनोदितम् ॥१२०॥
सर्वज्ञागमपीयूषयूषेण विहरन् भुवि ।
उत्तारयामास मिथ्यात्वविषं यो भव्यदेहिनाम् ॥१२१॥
अवन्त्या बहिरुद्याने सिद्धसेनदिवाकरम् ।
पाठयन्तं च बिरुदं जिनसूनुरिति स्फुटम् ॥१२२॥

१ सर्वज्ञपुत्रबिरुदं पठ्यमानं सुगायकैः ग ।

आगच्छन्तं बहिः क्रीडां कर्तुं गच्छन् महीपतिः।
निरीक्ष्य तत् परीक्षार्थं नमश्चक्रे स्वचेतसा ॥१२३॥ (युग्मम्)
सूरिस्तु करमुत्क्षिप्य धर्मलाभं ददौ तदा।
राजा प्राह कथं धर्मलाभोऽस्मभ्यं प्रदीयते ॥१२४॥
अस्माभिर्वन्दिता यूयं नैव सूरीश्वरा! मनाग्।
समर्थः किमयं धर्म्मलाभोऽत्र लभ्यते मुधा ॥१२५॥
सूरिः प्रोवाच भूपाल! वन्दमानाय दीयते।
कायेन वन्दिता नैव मनसा वन्दिता वयम् ॥१२६॥
श्रुत्वैतद्धर्षितो भूपोऽवरुह्य कुञ्जरात्ततः।
वन्दित्वा तं गुरुं स्वर्णकोटिं चादापयत्तदा ॥१२७॥
निर्लोभत्वात्तदाऽऽचार्यैर्जगृहे न नृपार्पिता।
कथितत्वान्नृपः पश्चात् स्वर्णकोटिं ललौ नहि ॥१२८॥
सूरेनुज्ञया जीर्णोद्धारे सा व्ययिता तदा।
ततो राजवहिकायां लिखितं धीसखैरिति ॥१२९॥

"धर्मलाभ इति प्रोक्ते दूरादुच्छ्रितपाणये।
सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः" ॥१३०॥
ॐकारनगरेऽन्येद्युः श्रावकैरिति जल्पितम्।
सिद्धसेनगुरोरग्रे धर्मं श्रुत्वा जिनोदितम् ॥१३१॥
अत्र शम्भुगृहादुच्चं जिनमद्म तपोधनाः।
कर्तुं ददति नो स्वामिन्! तत् त्वं कारय भूपतः ॥१३२॥
भवतो रुचितं चैत्यं मया भूपसमीपतः।
कारयितव्यमित्युक्त्वोज्जयिन्यां गुरुर्ययिवान् ॥१३३॥
चमत्कृतिकृते भूमिनायकस्यान्यदा प्रगे।
श्लोकचतुष्टयं कृत्वा सिद्धसेनदिवाकरः ॥१३४॥
भूभुग्निकेतनद्वारे गत्वा चेति जगौ तदा।
भो! द्वाःस्थाहं महीशस्य मिलनायागतोऽस्मि च ॥१३५॥
लिखित्वा पत्रके श्लोकमेकं द्वारस्थपाणिना।
प्रेषयामास सूरीशो भूपपार्श्वे विशारदः ॥१३६॥ तथाहि-

१ ननु-ग।

"भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारि वारितः।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः किं वाऽऽगच्छतु गच्छतु" ॥१३७॥
ज्ञात्वा श्लोकार्थमुर्वीशो रञ्जितो द्वाःस्थपाणिना।
प्रतिश्लोकं पुनः प्रेषयामास गुरुसन्निधौ ॥१३८॥ तथाहि—
"दीयन्तां दश लक्षाणि शासनानि चतुर्दश।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोको यद्वाऽऽगच्छतु गच्छतु ॥१३९॥
ज्ञातश्लोकार्थसूरीशो गत्वा मध्येगृहं नृपम्।
पूर्वाशास्थितमालोक्य पुनः श्लोकं पपाठ च ॥१४०॥
"अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता पुनः।
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम्" ॥१४१॥
पूर्वां मुक्त्वा राजा दक्षिणदिग्भागे स्थितः।
पुनरपि सूरिर्द्वितीयं श्लोकं प्राह—
"सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः" ॥१४२॥

ततः पश्चिमां स्थिते राज्ञि सूरिस्तृतीयं श्लोकं जगौ—
"त्वत्कीर्तिर्जातजाड्येव चतुरम्भोधिमज्जनात्।
आतपाय महीनाथ ! गता मार्त्तण्डमण्डलम्" ॥१४३॥
ततो भूपे उत्तरायां स्थिते चतुर्थं श्लोकं सूरिः पपाठ—
आहते तव निःस्वाने स्फुटितं रिपुहृद्घटैः।
गलिते तत्प्रियानेत्रे राजन् ! चित्रमिदं महत्" ॥ पुनः पपाठ—
"सरस्वती स्थिता वक्त्रे लक्ष्मीः करसरोरुहे।
कीर्तिः किं कुपिता राजन् ! येन देशान्तरं गता" ॥१४५॥
श्लोकार्थेन महीपालश्चमत्कृतमनास्तदा।
उत्तीर्यासनतोऽह्वाय नत्वा भक्त्या जगाविदः ॥१४६॥
इदं राज्यं लसद्धस्तिवाजिरत्नादिशालितम्।
गृहाण मामनुगृह्य ततः सूरिर्जगाविदः ॥१४७॥
मातृपित्रादिनिःशेषलक्ष्मी त्यक्ता मया पुरा।
तेनैव मे मनो लोष्ठकाञ्चनेषु समं सदा ॥१४८॥

शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।
मोक्षे भवे च साधूनां समं चित्तं सदा भवेत् ॥१४९॥
"भुञ्जीमहि मदा भैक्ष्यं जीर्णवासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपीठे कुर्वीमही किमीश्वरैः" ॥१५०॥
निर्लोभं तं नृपो वीक्ष्य सिद्धसेनं गुरूत्तमम् ।
उपलक्ष्य च सर्वज्ञमतं प्रशशंसादरात् ॥१५१॥
तदा च गुरुणौङ्कारनगरे जिनमन्दिरम् ।
श्राद्धोक्तं कारितं श्रीमद्विक्रमादित्यभूपतः ॥१५२॥
सिद्धसेनोऽन्यदा सूरिः श्रीनाभेयजिनालये ।
देवं नन्तुं ययौ सद्यः प्रभाते मुदिताशयः ॥१५३॥
वन्दितुं सिद्धसेनार्यं तत्र सर्वज्ञसद्मनि ।
तदा सद्यः समाजग्मुर्भूरिसांसारिका जनाः ॥१५४॥
सिद्धसेनगुरुः स्फारैर्नमस्कारैश्च भूरिभिः ।
स्तौतीति ऋषभं चैत्यवन्दनं विदधन्मुदा ॥१५५॥
"स मङ्गलं वो वृषभध्वजः क्रियाज्जटावलीसंवलितांसमण्डलः ।
यदीयमङ्गं किल सर्वमङ्गलाश्रितं प्रमोदाय न कस्य जायते ॥
भव्याङ्गभृत्कोकिलपुण्डरीकं दुष्कर्मरुक्छेदनपुण्डरीकम् ।
पद्भ्यां पवित्रीकृतपुण्डरीकं नताखिलाखण्डलपुण्डरीकम् ॥
उन्मत्तमोहद्विपपुण्डरीकं बाल्ये कृतार्थीकृतपुण्डरीकम् ।
शिरस्तुराषाड्धृतपुण्डरीकं त्वां स्तौमि चञ्चत्पदपुण्डरीकम्" ॥
अतिस्फारान् नमस्कारान् सदर्थसहितांस्तदा ।
कथयित्वेति भावेन सिद्धसेनो गुरुर्जगौ ॥१५९॥
नमुत्थुणे'ति सद्वाक्यैर्वर्द्धमानं जिनेश्वरम् ।
सूरीशं वीक्ष्य संसारिवर्गोऽतीवाहसद् भृशम् ॥१६०॥
एतैर्वर्षैर्गयं भूरिशास्त्राणि प्रपठन् यतिः ।
कथमेवंविधैः स्तोत्रैः प्राकृतैः स्तौति चार्हतः ॥१६१॥
श्रुत्वैतद् वचनं ह्रीणः सिद्धसेनगुरुस्तदा ।
निर्गत्य च ततः पुर्याः प्रतिष्ठानपुरे ययौ ॥१६२॥

१. निर्लोभत्वं नृपो वीक्ष्य सूरीशस्य तदा भृशम् । जिनधर्मरतः किञ्चिद् बभूव न्यायतत्परः **ग** । २ स्तुतिभिव **ग** । ३ गुरुसंनिधौ । **ग** ।

वृद्धवादिगुरुं नत्वा सिद्धसेनदिवाकरः ।
पप्रच्छेति गुरोः पार्श्वे विनयेन कृताञ्जलिः ॥१६३॥
वन्दनादिकसूत्राणि शोभन्ते प्राकृतानि न ।
अतोऽहं संस्कृतान्येव कुर्वे ते यदि रोचते ॥१६४॥
गुरुः प्राह महाभाग ! गौतमादिगणेश्वराः ।
चतुर्दशमहापूर्वशास्त्रपाथोधिपारगाः ॥१६५॥
वन्दनादिकसूत्राणि संस्कृतानि च किं नहि ।
जानन्ति कर्तुमह्नाय किन्त्वेवं त्वं प्रजल्पसि ॥१६६॥
"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां[1] चारूपकृतिहेतवे ।
गौतमादिगणाधीशैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः" ॥१६७॥
उक्तेन वचसा पाराश्चितं पापं तवाऽभवत् ।
तेनैव दुर्गतौ पातो भविता तव निश्चितम् ॥१६८॥
सिद्धान्ताऽऽशातनाऽकारि त्वयेदानीं दुरुत्तरा ।
संसारे भ्रमणं भूरि भविष्यति तवानघ ॥१६९॥

सिद्धसेनो जगौ स्वामिन् ! मौढ्यान् मयाऽधुना मुधा ।
ईदृशं जल्पितं भूरिदुःखसन्ततिदायकम् ॥१७०॥
भविष्यति ममाधस्तात् श्वभ्रे पातो दुरुत्तरः ।
तेनाधुना मम प्रायश्चित्तं विश्राणयोचितम् ॥१७१॥
वृद्धवादिगुरुः प्राह लग्नं तव तमो बहु ।
दुःशकं शक्यते दातुं तपो दातुं भवादृशाम् ॥१७२॥
अवधूतस्य वेषेण यदि त्वं द्वादशाब्दिकम् ।
स्थित्वा प्रान्ते नृपं प्रौढं धर्मं त्वं बोधयिष्यसि ॥१७३॥
तदा ते छुट्टनं पापाज्जायते नान्यथा पुनः ।
गृहित्वैतद् गुरोर्वाक्यं सिद्धसेनोऽचलत्ततः ॥१७४॥
स्थाने स्थाने भ्रमन् सिद्धसेनसूरिर्निरन्तरम् ।
अवधूतस्य वेषेण प्रबोधयति[2] मेदिनीम् ॥१७५॥
इतः श्रीविक्रमादित्यो हस्त्यश्वपत्तिसुन्दरम् ।
निरीक्ष्य राज्यमात्मीयं मुमुदेऽब्धिरिवोडुपम् ॥१७६॥

१ नृणां चो-ख । २ अनेन-ग ।

अन्येद्युः प्रातरासीनः सभायां मेदिनीपतिः ।
आकार्य भट्टमात्रादीन् सचिवानेवमूचिवान् ॥१७७॥
मदीयान्तःपुरं सर्वं शोभते न मनागपि ।
विना तुल्यां वधूं सूनोर्विना व्योम रविं विना ॥१७८॥
तेनेह तनयस्यास्य विवाहकरणादनु ।
द्विवारादधिकं कार्यं भोजनं मयका किल ॥१७९॥
ततो राज्ञो निदेशेन चतुर्दिक्षु पदातिकाः ।
कन्यां विलोकितुं गत्वा पश्चादेत्येति ते जगुः ॥१८०॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य तुल्या काऽपि न कन्यका ।
दृष्टाऽस्माभिः श्रुता नैव कुत्रचित् कस्य भूपतेः ॥१८१॥
ततश्चिचलिषुं क्ष्मापं द्रष्टुं कन्यां निशम्य च ।
भट्टमात्रो जगौ स्वामिन् ! नाचारोऽयं महीभुजाम् ॥१८२॥
अन्यलोका इव क्ष्मापाः पुत्रार्थं कन्यकाः स्वयम् ।
द्रष्टुं व्रजन्ति नो तेन भवान् तिष्ठतु साम्प्रतम् ॥१८३॥

तेन देहि मम स्वामिन्नादेशं याम्यहं द्रुतम् ।
कन्यां विलोकितुं दूरदेशेषु तव सेवकः ॥१८४॥
प्राप्यादेशं महीशस्य भट्टमात्रः शुभेऽहनि ।
चतुरङ्गचमूयुक्तः प्रस्थानमकरोद् बहिः ॥१८५॥
राज्ञोक्तं सुभटा ! भट्टमात्रस्यास्य च मन्त्रिणः ।
आदेशः सततं कार्यो भवद्भिस्तत्र सादरम् ॥१८६॥
भृत्याः प्रोचुस्तव स्वामिन् ! प्रमाणं वचनं त्वदः ।
यतो भवति भूपाज्ञाऽऽराधिता सुखदायिनी ॥१८७॥
इतस्तत्रागतः कश्चिद् भट्टः साडम्बरान्वितः ।
चमूं प्रेक्ष्य नरान् प्राह कस्येदं कटकं महत् ॥१८८॥
चमूनरा जगुर्भूपामात्यस्य कटकं किल ।
भट्टोऽवग् यद्यमात्यस्यैतन्मात्रा स्याच्चमूः स्फुटम् ॥१८९॥
महीशस्य कियन्मात्रं कटकं च भविष्यति ।
भृत्यैरुक्तं नरेन्द्रस्य सङ्ख्या न ज्ञायते बले ॥१९०॥

१ द्विवारं च विधातव्यं भो-ग । २ इतः कश्चित् कुतो भट्टः सप्ताश्वारूढपत्तियुक्-ग ।

किमर्थं मिलिता सेनेत्युक्ते भट्टेन ते जगुः।
विक्रमार्कनरेन्द्रस्योऽद्वाहयोग्योऽभवत्सुतः ॥१९१॥
तस्य तुल्यां कनीं द्रष्टुं भट्टमात्रोऽधुनाऽनघः।
भूपादेशाच्चिचलिषुः प्रस्थानं प्रददौ बहिः ॥१९२॥
भट्टः प्राह महीशस्य कीदृक्षो विद्यते सुतः।
भृत्याः प्रोचुः स्ववक्त्रेण वक्तुं रूपं न शक्यते ॥१९३॥
रूपनिर्जितकन्दर्परूपश्रीश्चारुविक्रमः।
श्रीविक्रमचरित्राह्वो विद्यते भूपतेः सुतः ॥१९४॥
येन भूपतलारक्षभट्टमात्रपणाङ्गनाः।
कौटिकद्यूतकृद्वह्निवेताला विजिताः पुरा ॥१९५॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य तस्य सूनोर्महिपतेः।
रूपं [1]पराक्रमश्चापि विद्येते जगदुत्तमौ ॥१९६॥
ततोऽभ्येत्य द्रुतं भट्टो भट्टमात्रान्तिके जगौ।
किमर्थं साम्प्रतं सेनायुक्तेन चल्यते त्वया ॥१९७॥
भट्टमात्रो जगौ सौवकार्यं तस्याग्रतस्तदा।
ततो भट्टोऽवदत्कन्या विद्यते दिव्यरूपिणी ॥१९८॥
अमात्योऽवक् सुता कस्यास्तीत्युक्ते स जगाववदः।
सुराष्ट्रामण्डले चार्वी विद्यते वलभी पुरी ॥१९९॥
तत्र महाबलक्ष्मापस्तस्य वीरमती प्रिया।
तयोः शुभमती दिव्यरूपश्रीर्विद्यते सुता ॥२००॥
सर्वविद्याकलाम्भोधिपारीणा प्राप्तयौवना।
मोहयन्ती मनोयूनामभूत् शुभमती क्रमात् ॥२०१॥ यतः-
"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम्,
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः" ॥इत्यादि

1 पराक्रमं को ज्ञो वर्णयति स्म मानवः-ग।

तस्यास्तुल्यो वरो भूर्दिदेशेषु बहुशोऽभितः ।
लब्धो विलोक्यमानोऽपि साम्प्रतं न महीभुजा ॥२०४॥
ततस्तत्रागतं वीक्ष्य पुत्रं विक्रमभूपतेः ।
भट्टः प्राह वरस्यास्य योग्या सैवास्ति कन्यका ॥२०५॥
ततो गत्वा नृपोपान्ते भट्टमात्रः प्रमोदितः ।
तदुक्तं कथयामास ततो भूपो जगावदः ॥२०६॥
भट्टमात्र ! त्वरा(रया) तत्र गत्वाऽखण्डप्रयाणकैः ।
विवाहं मेलयित्वा त्वमागच्छात्र शुभाशय ॥२०७॥
भूपालादेशमादाय चलन्तं वीक्ष्य मन्त्रिणम् ।
श्रीविक्रमचरित्रेणेत्युक्त्वा स्वाः प्रेषिता भटाः ॥२०८॥
मम तुल्या कनी चेत्स्याद् भवद्भिः स्त्रीपरीक्षकैः ।
मेल्यः पाणिग्रहस्तस्या मया सहान्यथा नहि ॥२०९॥
ततः क्रमाच्चलन् भट्टमात्रो भूरिबलो बली ।
समेत्य वलभीपार्श्वे यावत् तस्थौ समाहितः ॥२१०॥

तावन्महाबलक्ष्मापः पृथ्वीं सेनां निरीक्ष्य च ।
प्रेक्ष्य दूतं विवाहार्थमागतं ज्ञातवांश्च तम् ॥२११॥
उज्जयिन्यास्समायातं भट्टमात्रं महीपतिः ।
पुरीमध्ये समानीयोत्तारकं तस्य दत्तवान् ॥२१२॥
राजा हृष्टो जगौ भट्टमात्र ! कीदृग् वरोऽस्ति सः ।
भट्टमात्रो जगौ तस्य पिता विक्रमभूपतिः ॥२१३॥
सालवाहनभूपस्य पुत्री माता सुकोमला ।
रूपं च जितकन्दर्पदेहरूपश्रि विद्यते ॥२१४॥ [युग्मम्]
तस्य तच्चरित्रस्यावदातं देवदानवैः ।
वर्णयितुं न शक्येत शतसङ्ख्यैर्मुखैरपि ॥२१५॥
वरस्तत्पुरवास्तव्य भट्टनाऽपि विलोकितः ।
तमाकार्य गृहे सम्यक् पृच्छयतां मेदिनीपते ! ॥२१६॥
आकार्य भूभुजा पृष्टो भट्टः प्राहेति रञ्जतः ।
तस्य वरस्य रूपश्रीर्वक्तुं शक्येत नो सुरैः ॥२१७॥

ये ये गुणा विलोक्यन्ते वरस्य शास्त्रमध्यतः ।
ते ते सर्वे मया दृष्टा वरे तस्मिन् पुरा ध्रुवम् ॥२१८॥ यतः-
"कुलं च शीलं च सनाथता च, विद्या च वित्तं च वपुर्वयश्च ।
वरे गुणा सप्त विलोकनीयास्ततः परं भाग्यवशा हि कन्या ॥
मूर्खनिर्द्धनदूरस्थशूरमोक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां चापि देया न कन्यका" ॥२२०॥
भट्टमात्रो जगौ स्वामिन् । कीदृक्षाऽस्ति सुता तव ।
भूपोऽवक् चल्यतां गेहे पश्य त्वमपि कन्यकाम्" ॥२२१॥
ततो भूपगृहे गत्वा भट्टमात्रो निरीक्ष्य ताम् ।
प्राहेति मेल्यतां राजन्नुद्वाहो लग्नमिष्यताम् ॥२२२॥
आकार्य पण्डितान् भूपो ज्योतिःशास्त्रविशारदान् ।
उद्वाहमेलनकृते दिनशुद्धिं शुभां ललौ ॥२२३॥
कन्याया यावदुर्वीशोऽचीकथद्धस्तपीडनम् ।
शुभेऽह्नि भट्टमात्रेण तावन् मन्त्री समाययौ ॥२२४॥

कन्योद्वाहकृते पूर्वगतमन्त्रिणमागतम् ।
निरीक्ष्य भूपतिर्मन्दीबभूव तत्क्षणात्तदा ॥२२५॥
मन्दीभूतं नृपं वीक्ष्य भट्टमात्रो जगावदः ।
मुहूर्तं व्रजति स्वामिन् ! तेन त्वं च त्वरीभव ॥२२६॥
राजा प्राह क्षणं भट्टमात्रेदानीं विलम्बय ।
यावत्प्रक्ष्यामि मन्त्रीशमागतं बहुकालतः ॥२२७॥
ततो भूमीभुजा पृष्टस्तत्र मन्त्री जगाविति ।
सपादलक्षदेशोर्वीभूषणे श्रीपुरे पुरे ॥२२८॥
गजवाहनभूपस्य पुत्रो धर्मध्वजाभिधः ।
विद्यते स्वरूपपरूपपराभूतझषध्वजः ॥२२९॥
सार्धं स्वकन्यया तस्योद्वाहं सम्मील्य तत्क्षणात् ।
आगामिदशमीघस्रे लले लग्नं मयाऽपि हि ॥[त्रिभिर्विशेषकम्]
आयास्यति दिने तस्मिन् यज्ञाऽपि निश्चितं द्रुतम् ।
श्रुत्वैतद् व्याकुलो भूपो दध्यावेवं निजे हृदि ॥२३१॥ यतः-

"निअघरसोसा परगेहमण्डणी कलिकलङ्ककुलभवणम् ।
जेहिं न जाया धूया ते सुहिआ जीवलोगम्मि ॥२३२॥

जातेति चिन्ता महतीति शोकः,
कस्य प्रदेयेति महान् विकल्पः ।
दत्ता सुखं स्थास्यति वा नवेति,
कन्यापितृत्वं किल हन्त कष्टम् ॥२३३॥

जम्मंतीए सोगो वुड्ढन्तीए अ वड्ढए चिंता ।
परिणीआए दंडो जुवइपिआ दुक्खिओ निच्चं" ॥२३४॥
विचिन्त्येति महीपालो विकल्पान् भूरिशो हृदि ।
भट्टमात्रं प्रति प्राहेत्येवं सन्मानपूर्वकम् ॥२३५॥
भट्टमात्राधुनोद्वाहं संयोज्यागाच्च धीसखः ।
करिष्यतेऽत्र किं यज्ञा विवाहाय ममेष्यति ॥२३६॥
व्यवहारः ममस्त्येवं लोके यस्मै वराय च ।
दत्ताऽऽदौ कन्यका तस्मै दीयते नात्र संशयः ॥२३७॥ यतः–

"सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति माधवः ।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्" ॥२३८॥
भवन्तो हि विचारज्ञाः किमस्माभिर्निगद्यते ।
यतो विचार्य कुर्वन्ति कार्यजातं सदोत्तमाः ॥२३९॥ यतः–
"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥२४०॥
अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" ॥२४१॥
महीपतेर्वचो भक्तिगर्भमाकर्ण्य तत्क्षणात् ।
भट्टमात्रो जगौ तस्मै दीयतां कन्यकां निजाम् ॥२४२॥
भट्टमात्रोदितं श्रुत्वा महीपालो महाबलः ।
दध्यावयं महान् मन्त्री विक्रमाकस्य भूपतेः ॥२४३॥ यतः–
"कुसुमान्यञ्जलिस्थानि वासयन्ति करद्वयम् ।
प्रायः सुमनसां वृत्तिर्वामदक्षिणयोः समा ॥२४४॥

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम्।
सुजनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः" ॥२४५॥
एवं कृत्वा निजोत्तारे भट्टमात्रे समागते।
श्रीविक्रमचरित्रेण प्रेषिताः सुभटा जगुः ॥२४६॥
दिव्यरूपामिमां कन्यां श्रीविक्रमाङ्गजं विना।
नान्यः कोऽपि महीपालसुतः परिणयिष्यति ॥२४७॥
[1]भट्टमात्रो जगौ भूपकन्यका मन्त्रिणा यदि।
ददेऽन्यनृपपुत्राय तदा कन्याऽनया सृतम् ॥२४८॥
[2]श्रीविक्रमचरित्रस्यानुगा एवं तदा जगुः।
नीत्वा कन्यां पुरे स्वीये दास्यामो भूपसूनवे ॥२४९॥
श्रीविक्रमसुतं मुक्त्वा यद्यन्यस्मै महीभुजे।
अनेन दास्यते कन्या तदा किञ्च वयं मृताः ॥२५०॥ यतः—
येन न क्रियते स्वामिकार्यं शक्त्याऽऽत्मनो ननु।
तस्य किं जीवितव्येन जायते लघुता स्फुटम्" ॥२५१॥
भट्टमात्रो जगौ नः किं ननु स्यात् कन्ययाऽनया।
श्रीविक्रमचरित्रस्य बह्व्योऽन्याः सन्ति कन्यकाः ॥२५२॥
क्रियतेऽत्र महीशेन मार्द्धमत्र कलिर्यदि।
संहारो हि तदा नृणां मिथो भूरिर्भविष्यति ॥२५३॥ यतः—
पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः।
युद्धे विजयसन्देहः प्रधानपुरुषक्षयः" ॥२५४॥
भट्टमात्रोक्तमाकर्ण्य न्यायमार्गसमन्वितम्।
मेने तैः सुभटैस्तत्र मन्त्री हृष्टोऽभवत्ततः ॥२५५॥
विमृश्यैतत् ततो भट्टमात्रोऽभ्येत्य निजे पुरे।
भूपाग्रेऽचीकथत् सर्वं विवाहमिलनादिकम् ॥२५६॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यो भट्टमात्रं च तत्क्षणात्।
अन्यत्र कन्यकां द्रष्टुं प्रेषयामास नीवृति ॥२५७॥

१ भट्टमात्रो जगावादा वन्यस्मै कन्यका ददे। भूपालसूनवे तेनानया किं कार्यमात्मनः' ॥ इति—ग० पुस्तकेऽधिकः पाठः।
२ सुभटावूचतुः सद्यो बलादेनां च कन्यकाम्। नीत्वा स्वनगरे परिणेष्यावो भूपनन्दनम् ॥

ततस्ते सुभटा एत्य विक्रमार्कसुतान्तिके ।
विवाहमिलनोदन्तं प्रोक्त्वेति जगदुः पुनः ॥२५८॥
कन्याया दिव्यरूपाया महाबलमहीपतेः ।
तुल्या नास्ति जगन्मध्ये कन्याऽन्याऽपि मनोहरा ॥२५९॥
श्रुत्वैतत् कन्यकाजाताऽनुरागोऽपि नृपाङ्गजः ।
गोपयित्वा मनः प्राह तदेति[1] स्मेरिताननः ॥२६०॥
अङ्गवङ्गतिलङ्गादिदेशेषु बहुषु ध्रुवम् ।
विद्यन्ते कन्यका बह्वयो दिव्यरूपधराः पुनः ॥२६१॥
तेनान्यदत्तया कन्या(न्यया) सृतं मम च साम्प्रतम् ।
अन्यां चार्वीमहं कन्यां परिणेष्यामि भूपतेः ॥२६२॥
श्रुत्वैतत्सुभटास्सर्वे जग्मुः स्वस्वनिकेतने ।
भूपपुत्रोऽपि सन्ध्यायामश्वशालामुपेयिवान् ॥२६३॥
पप्रच्छ घोटकाध्यक्षमिति भूपालनन्दनः ।
के केऽश्वाः सन्ति कीदृक्षा अश्वपाल ! निगद्यताम् ॥२६४॥

अश्वपालो जगावेते वेगिनः सैन्धवा हयाः ।
एते कम्बोजका एते पञ्चभद्राभिधाः पुनः ॥२६५॥
कोङ्काहखुङ्गाहकियाहनीलकै-र्वोल्लाहखाङ्गाहसुरुहकैर्हयैः ।
हलीहकैर्हालकपाटलैः पुन-स्तुरङ्गशाला नृपतेर्विराजते ॥२६६॥
एभ्योऽप्येते हया वेगवन्तः सन्ति मनोरमाः ।
एभ्योऽप्येते पुनर्जात्या विद्यन्ते तुरगोत्तमाः ॥२६७॥
भूपपुत्रो जगौ भूयोऽन्यत्र सन्ति हयाः किमु ।
अश्वाध्यक्षोऽवदद् मध्ये विद्येते द्वौ तुरङ्गमौ ॥२६८॥
वायुवेगमनोवेगाह्वयौ सल्लक्षणान्वितौ ।
दृष्ट्वा भूपाङ्गजो दध्याविति चित्ते चमत्कृतः ॥२६९॥
योजनानां शतं गम्यं मयाऽर्वाक् पञ्चवासरात् ।
तेन मनोजवं ताक्ष्यं विना कार्यं न सेत्स्यते ॥२७०॥
ततो वीक्ष्य हयान् सर्वान् पश्चादेत्य नृपाङ्गजः ।
अदृश्याङ्गः पुना रात्रौ ययौ घोटकमन्दिरम् ॥२७१॥

१ छद्मनेति रुषाऽरुणः-ग ।

मनोवेगाश्वमारुह्य दिव्याभरणभूषितः ।
खड्गपाणिर्बहिः पुर्या निस्ससार नृपाङ्गजः ॥२७२॥
स्थित्वा क्षणं मनोवेगमश्वं प्रति जगौ स च ।
त्वं ज्ञानी कुशलोऽसि त्वं वेगवान् चारुलक्षणः ॥२७३॥
वलभी विद्यते यत्र तत्र त्वं मां द्रुतं नय ।
आकर्ण्यैतद् हयः सद्यश्चचाल तां पुरीं प्रति ॥२७४॥
पुरग्राममरित्-शैलान् लङ्घयन् तुरगो रयात् ।
अनैषीद् वलभीपार्श्वे विक्रमादित्यनन्दनम् ॥२७५॥
विक्रमार्कसुतो दध्यावेवं पुर्या बहिःस्थितः ।
कार्यं शुध्यति नो कस्य पुंमश्च नात्रकं विना ॥२७६॥
विमृश्येति पुरीमध्ये विक्रमादित्यनन्दनः ।
चारुवेषोऽचलत्पश्यन् पुरशोभां पदे पदे ॥२७७॥
केयं स्वर्गपुरी केयं लङ्का किं हस्तिनापुरम् ।
पातालनगरं किंवा किंवा द्वारावती पुरी? ॥२७८॥

इतः श्रीदसुनालक्ष्मी गवाक्षस्था नृपाङ्गजम् ।
व्रजन्तं वीक्ष्य तद्रूपमोहितेति सखीं जगौ ॥२७९॥ यतः-
"अक्खाणमणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति" ॥२८०॥
अयं पुमान् भवत्याऽत्रानेतव्यो मञ्जुलं व्रजन् ।
ततो गत्वा सखी लक्ष्म्याः समीपे तं समानयत् ॥२८१॥
कुमारीं वीक्ष्य भूपालसूनुरेवं जगौ तदा ।
भो भो भगिनि! जोत्कारो भवन्त्यै भवतान्मम ॥२८२॥
श्रुत्वैतद् वचनं तस्य लक्ष्मीं मूर्च्छामुपागताम् ।
शीतोपचाररचनात् सचैतन्यां व्यधात् सखी ॥२८३॥
सचेतनाऽपि सा लक्ष्मीः शून्यचित्ताऽवनिस्थिता ।
कृष्णानना मनाक् सख्या बहूक्तापि जगाद न ॥२८४॥
सखी प्राहात्मनो दुःखं स्वामिनि! त्वं प्रकाशय ।
यतो गोप्यं मनाग् नैव स्वामिसेवकयोर्भवेत् ॥२८५॥

विक्रमार्कसुतो दध्यावागते मयि साम्प्रतम् ।
अत्रैतस्या महत् कष्टं धिग् धिग् भवतु मां प्रति ॥२८६॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते सख्या लक्ष्मीर्जगाविति ।
अयं पुमान् पतिः कर्तुमीहितो मयका पुरा ॥२८७॥
वदन् जामीति जोत्कारं चक्रे साधु च नो मयि ।
तेनातीवाभवद् दुःखं मदीये मानसे सखि ! ॥२८८॥
सखी प्रोवाच नो खेदः स्वामिन्यत्र विधीयते ।
असावपि तव भ्राता सदाकृतिरभूत्पुनः ॥२८९॥
देवदानवगन्धर्वभूपनिःस्वेभ्यमानवाः ।
पूर्वभवकृतात् पापात् न छुटन्ति कदाचन ॥२९०॥ यतः–
येन येन यथा मृत्युः प्राप्तव्यः सोऽन्यथा नहि ।
आराधिते यमे तुष्टे दैवयोगाद् वणिग् मृतः ॥२९१॥
ततो मुक्त्वा शुचं लक्ष्म्या भ्रातेत्युक्त्वा नृपाङ्गजः ।
सन्मान्य भोजनैः सद्यः स्थापितः सदने निजे ॥२९२॥

वादित्रनिनदं श्रुत्वा प्रोवाचेति नृपाङ्गजः ।
हे भगिनि ! पुरीमध्ये किं किं भवति सम्प्रति ॥२९३॥
लक्ष्मीः प्राह चतुर्घट्या रात्रावद्य नृपाङ्गजाम् ।
वेलालग्ने शुभे धर्मध्वजश्च परिणेष्यति ॥२९४॥
तेनाभितः पुरीमध्ये स्थाने स्थाने महीपतिः ।
तलिकातोरणादीनि बन्धयामास रङ्गतः ॥२९५॥
स्थाने स्थाने च वाद्यन्ते वादित्राण्यद्य भूरिशः ।
मण्ड्यन्ते नाटकादीनि नर्त्तकैश्च पदे पदे ॥२९६॥ यतः–
"चञ्चच्चारणदीयमानकनकं सन्नद्धगीतध्वनि,
स्फूर्जद्गाथकलुण्ठ्यमानकरटिप्रारब्धनृत्योत्सवम् ।
पूर्णं मङ्गलतूर्यदुन्दुभिरवैरुत्तालवैतालिक–
श्लाघालङ्घितपूर्वपार्थिवमथ क्ष्माभर्त्तुरासीद् गृहम्" ॥२९७॥
श्रुत्वेनद् वैक्रमः प्राह भगिनि ! त्वं नृपाङ्गजाम् ।
मह्यं प्रदापयेदानीं नो चेत् प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥२९८॥

लक्ष्मीः प्राह कथं तुभ्यं दाप्यते भूपनन्दिनी ।
दत्ताऽऽदौ भूभुजा धर्मध्वजाय क्ष्मापसूनवे ॥२९९॥ यतः-
"गते जले कः खलु सेतुबन्धः, किं वा मृते चौषधदानकृत्यैः ।
मुहूर्त्तपृच्छा किमु मुण्डिते का हस्ताद् गते वस्तुनि किं हि शोकः
यज्ञाऽप्यद्यागमत्पाणिग्रहस्य वासरोऽपि च ।
तेनैतद् विद्यते सर्वं दुर्घटं तव सम्प्रति ॥३०१॥
ततो भूपाङ्गजो हस्ते कृत्वाऽसिपुत्रिकां द्रुतम् ।
आहते यावता वक्षस्तावल्लक्ष्म्या धृतः शये ॥३०२॥
प्रोक्तं चाहं करिष्यामि वाञ्छितं ते स्थिरीभव ।
स्वस्थं कृत्वा च तं लक्ष्मीर्भूपभार्यान्तिके ययौ ॥३०३॥
प्रोवाचेति भवत्पुत्र्यास्सर्वेभ्यानां निकेतने ।
विनोलकोऽभवत् तेन भूयादद्य[1] ममालये ॥३०४॥
इत्यादि बहुशो युक्त्या मानयित्वा नृपप्रियाम् ।
नृपपुत्रीं निजं सद्म गौरवार्थं समानयत् ॥३०५॥

विक्रमार्कसुतक्ष्मापपुत्र्यौ रूपं मिथस्तदा ।
निरीक्ष्य मूर्च्छितौ मद्यः पतितौ पृथिवीतले ॥३०६॥
दृष्ट्वा तौ मूर्च्छितौ लक्ष्मीर्दध्यावेवं पुनः पुनः ।
उत्तरो दास्यते भूमीपतेः पत्न्या कथं मया ॥३०७॥ यतः-
"काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं०" सर्ग-४ श्लोक १८२
ध्यात्वेति बहुशः शीतोपचारकरणादिभिः ।
श्रेष्ठिपुत्री सचैतन्यौ तौ चकार क्षणात्तदा ॥३०९॥
द्वावपि प्रोचतुर्लक्ष्म्याः पुर एवं मिथस्तदा ।
आवयोः कारयोद्वाहं नो चेन्मृत्युर्भविष्यति ॥३१०॥
ततः श्रेष्ठिसुता चिन्ताऽऽतुरा दध्याविदं हृदि ।
इतो व्याघ्रः इतः कूलमिति न्यायोऽपतन्मम ॥३११॥ यतः-
"अर्थातुरणां न सुहृन्न बन्धुः, क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः ।
कामातुराणां न भयं न लज्जा, चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा" ॥

[1] 'मेऽद्य गेहे भविष्यति'-ग

इति ध्यात्वा जगौ लक्ष्मीर्भूपपुत्रि ! नृपालये ।
त्वां सम्प्राप्तीकरिष्यामि साम्प्रतं समहोत्सवम् ॥३१३॥
त्वां परिणेतुमायाति यदा धर्मध्वजः पथि ।
त्वया तदेति कर्त्तव्यं मदुक्तं भूपनन्दिनि ! ॥३१४॥
नृपावासलघुद्वारि विवाहसमये द्रुतम् ।
लालाऽऽभरणवस्त्रादि समागम्यं त्वया ध्रुवम् ॥३१५॥
असौ भूपाङ्गजस्ताक्ष्र्यारूढस्तत्रैत्य तत्क्षणात् ।
त्वामादाय निजे स्थाने गत्वा च परिणेष्यति ॥३१६॥
एवं श्रेष्ठिसुता कृत्वा विचारं भूपनन्दिनीम् ।
भोजयित्वा नृपावासेऽप्रेषयत्सायमञ्जसा ॥३१७॥
इतो धर्मध्वजः ताक्ष्र्यारूढः शुभमतीं तदा ।
परिणेतुं महीपालमार्गेऽचालीत् सदुत्सवम् ॥३१८॥
विक्रमार्कसुतः ताक्ष्र्यारूढस्तां भगिनीमितः ।
मुत्कलाप्य ययौ पूर्वकृतसंकेतस्थानके ॥३१९॥

अवसरं विना नेतो निःसर्तुं लभते कनी ।
दध्यौ च मेऽधुना पूर्वं दुष्टकर्म समागमत् ॥३२०॥
संकेतस्थानके नूनमागतः स भविष्यति ।
तेन कृत्वा छलं कंचित् निःसरिष्याम्यहं शनैः ॥३२१॥
विचिन्त्येति महीपालपुत्री प्राह सखीं प्रति ।
ममास्ति साम्प्रतं देहचिन्ता तेन व्रजाम्यहम् ॥३२२॥
सखी प्राहागतो राजद्वारे धर्मध्वजो वरः ।
तवाभवद् वपुश्चिन्ता गतिः काऽत्र भविष्यति ॥३२३॥
प्राह शुभमती देहचिन्तायां कोऽपि मानवः ।
चक्री वा वासुदेवो वा न क्षणं क्षमते मनाक् ॥३२४॥ यतः–
"तिन्नि सल्ला महाराय ! अस्सिं देहे पइट्ठिया ।
वाउमुत्तपुरीमाणं खणमित्तं न धारए ॥३२५॥अत्र साधोः कथा
"कण्हो नराण बलिओ कण्हस्स य तुंगिणी बलिआ ।
भणइ उ(अ)ड्डुरत्ते निस्सर किं निस्सरिस्सामि । अत्रापि कृष्णकथा

इत्यादि युक्तितः पर्यवस्थाप्य स्वां सखीं तदा ।
निस्ससार गृहाद् यावद् बहिः शुभमती कनी ॥३२७॥
इतस्तावत्समायातः पूर्वं विक्रमनन्दनः ।
निरीक्ष्य जातमुत्सूरं नृपपुत्रीमनागताम् ॥३२८॥
आकुलव्याकुलस्वान्तो विलोकयन्नितस्ततः ।
पुरुषं कमपि प्रेक्ष्य तत्रायातं जगावदः ॥३२९॥
यावद् वरं विलोक्यात्र पश्चादेष्याम्यहं द्रुतम् ।
तावत्त्वमश्ववस्त्रादि गृहाण निखिलं मम ॥३३०॥
तेनोमित्युदिते भूपपुत्रस्तद्वेषभूषितः ।
कन्यार्थं त्वरितं भूपमध्येगेहं ययौ तदा ॥३३१॥ यतः–
"दिवा पश्यन्ति नो घूकाः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥३३२॥
कृत्याकृत्ये न जानन्ति न जानन्ति हिताहिते ।
कामान्धा मानवा जग्धधत्तूरबीजका इव" ॥३३३॥

इतस्तत्रैत्य भूपालपुत्री प्राहेति तं नरम् ।
हे कुमाराधुनोत्सूरोऽजनि कार्यवशान्मम ॥३३४॥
अहमत्रागताऽद्य त्वां परिणेतुं नृपाङ्गजा ।
तेन व्रज निजं स्थानं प्रति त्वं भूपनन्दन ! ॥३३५॥
श्रुत्वैतत् कर्षको दध्यावियमागान्नृपाङ्गजा ।
संकेतिना नरेणेति केनचिद् नात्र संशयः ॥३३६॥
ध्यात्वेति मौनमाधाय तामादाय च तत्क्षणात् ।
सिंहाह्वः कर्षकः सौवस्थानं प्रत्यचलत् तदा ॥३३७॥
हृष्टा कन्याऽध्वनि प्राह भो कान्त ! भवतः पुरम् ।
कियन्मार्गे समस्तीति मदग्रे कथयाधुना ॥३३८॥
कथाभिरथवा पूर्वभूताभिः साम्प्रतं चलन् ।
मम कर्णौ कुरु स्वामिन् ! पवित्रौ वर्त्मनि ध्रुवम् ॥३३९॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते.यावज्जजल्प नो हली ।
तावद् भूपाङ्गजा दध्यौ लज्जमानो न वक्त्ययम् ॥३४०॥

उत्तमा मानवा नैव जल्पन्ति स्म यथा तथा ।
समुत्पन्ने महाकार्ये जल्पन्ति स्तोकमेव हि ॥३४१॥ यतः–
"यौवनेऽपि प्रशान्ता ये ये च हृष्यन्ति याचिताः ।
वर्णिता ये च लज्जन्ते ते नरा जगदुत्तमाः ॥३४२॥
गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः ।
नीचो वदति न कुरुते न वदति साधुः करोत्येव" ॥३४३॥
अथ भानूदये तस्य वक्त्रं वीक्ष्य नृपाङ्गजा ।
मूर्च्छिता पृथिवीपीठेऽपतन्निश्चेष्टकाष्ठवत् ॥३४४॥
शीतोपचारतः स्वस्थीभूता भूपालनन्दिनी ।
दध्याविति सको दिव्यरूपधारी नरः कुतः ॥३४५॥
अयं कुत्सितरूपश्रीरागतोऽसि कुतो नरः ।
आनीतो वा मदीयेन भाग्येन ननु सम्प्रति ॥३४६॥
इतः **सिंहो** हली प्राह त्यक्तमौनावलम्बकः ।
भो भामिनि ! कथं शोको हर्षस्थाने विधीयते ॥३४७॥

ग्रामे विद्यापुरे भूरिकर्षकादिजनाकुले ।
द्यूतक्रीडादि कुर्वन्ति यत्र लोका निजेच्छया ॥३४८॥
तत्राहं कर्षकः **सिंहो** वसामि द्यूततत्परः ।
सप्तव्यसनकल्लोलसहितः सततं मुदा ॥३४९॥
बीजमुप्तं मयेदानीं पराजितेषु पञ्चसु ।
चत्वारो वृषभाः सन्ति सन्त्यन्येको रथोऽनघः ॥३५०॥
द्वे गावौ रासभी ह्येका नयते सलिलं गृहम् ।
गेहं तृणमयं छिद्ररिक्तं निर्वातमस्ति मे ॥३५१॥
विद्यते गृहिणी पूर्वमेका त्वं द्वितीया पुनः ।
स्थापयित्वा नवीनां त्वां जीर्णा निष्काश्यते मया ॥३५२॥
सदनस्वामिनीं कृत्वा त्वामहं स्यां भृशं सुखी ।
यत एवंविधो योगो लभ्यते भाग्यतो नरैः ॥३५३॥ यतः–
"एका भार्या त्रयः पुत्रा द्वे हले दश धेनवः ।
ग्रामे वासः पुरासन्ने स्वर्गादपि विशिष्यते ॥३५४॥

तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति" ॥३५५॥
श्रुत्वैतद् कन्यका दध्यौ पतिताऽहं च संकटे।
बुद्धिं विना न निष्कोष्टुं शक्यते मयका मनाक्॥ यतः—
"यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥३५७॥
इत्यादि बुद्धिसूक्तानि।
ध्यात्वेति कन्यका प्राह जल्पितं भवता वरम्।
परमेकं महाविघ्नं विद्यते दुःखदं तव ॥३५८॥
यदि त्वं दिव्यरूपां मामनङ्गीकृत्य नेष्यसि।
ग्राममध्ये तदा राजा मद्रूपश्रीविमोहितः ॥३५९॥
हत्वा त्वां सपदि स्वीयगेहे मां क्षेप्स्यति क्षणात्।
तेन मुक्त्वा निजे क्षेत्रे मां गच्छ निजसद्मनि ॥३६०॥
क्षेत्रे विवाहसामग्रीं सर्वामानीय तत्क्षणात्।
परिणीय च मां कन्यां ततः सौवगृहे नय ॥३६१॥

एवं कृते तु भवतः कुशलं हि भविष्यति।
श्रुत्वैतत् कर्षकोऽनैषीत् स्वक्षेत्रं तां प्रमोदितः ॥३६२॥
एवं वदन् हली तस्यै क्षेत्रं दर्शयति स्वकम्।
इदं युगंधरीक्षेत्रं जगज्जीवनकृत्पुनः ॥३६३॥
इदं च वनकक्षेत्रं सर्ववस्त्रविधायकम्।
इदं च चणकक्षेत्रं तुष्टिकृत् सततं नृणाम् ॥३६४॥
इत्यादि बहुशः प्रोक्त्वा दिव्याश्ववसनान्विताम्।
मुक्त्वा तां कन्यकां क्षेत्रे जीर्णवस्त्रोऽचलद्धली ॥३६५॥
गत्वा गेहे द्रुतं भार्यां प्रति प्राह कृषीवलः।
रे रे त्वयाऽमुकं कार्यं कृतं नवेति हक्कयन् ॥३६६॥
त्वया विनाशितं सर्वं गेहं सम्प्रति मामकम्।
परिणेतुं मयाऽऽनीता नवीना कन्यकाऽद्भुता ॥३६७॥
एवं कर्कशभाषाभिः संतर्ज्य तेन भूरिशः।
निष्काशिता पितुर्गेहे ययौ पूर्वप्रिया तदा ॥३६८॥

आकार्यैकं द्विजं सर्वोद्वाहसामग्रिकान्वितम् ।
परिणेतुं च तां कन्यां निस्ससार हली गृहात् ॥३६९॥
इतः स्वशीलरक्षार्थमश्वरूढा नृपाङ्गजा ।
प्राणांस्त्यक्तुं चचालाशु गिरिनारगिरिं प्रति ॥३७०॥
दध्यौ यदि पितुर्गेहे गमिष्याम्यहकं पुनः ।
तदा तत्र कथं कार्यमुत्तरो मयका स्फुटम् ॥३७१॥
द्वयोरपि तदा भर्त्रोश्चुक्तिता दैवयोगतः ।
आपदायामहं पूर्वं पतिताऽस्मि करोमि किम् ॥३७२॥
एवं चिन्तापरा राजपुत्री शुभमती तदा ।
न सुप्ता न जजागार नैवोत्तस्थौ मनागपि ॥३७३॥ यतः–
"चिन्तातुरस्य दुःस्थस्य पतितस्यापदि स्फुटम् ।
रोगग्रस्तस्य मर्त्यस्य निद्रा नायाति कर्हिचित् ॥३७४॥
तस्मिन् वृक्षे स्थितो रात्रौ भारण्डः स्थविरो वयः ।
अपत्यानि चतुर्दिक्ष्वागतानीति जगौ तदा ॥३७५॥
केन कुत्र किमाश्चर्यं श्रुतं दृष्टं प्रजल्प(ल्प्य)ताम् ।
तत्र एको जगौ तातागमं वलभ्या बहिर्वने ॥३७६॥
कोलाहलं पुरीमध्ये निशम्याहं विलोकितुम् ।
आगां यावज्जनास्तावदेवं प्रोचुः परस्परम् ॥३७७॥
धर्मध्वजो वरो भूमिपतेः शुभमतीं सुताम् ।
परिणेतुं गृहे यावदागमत् समहोत्सवम् ॥३७८॥
तावत् कोऽपि नरो भूमी(प)पुत्रीं हृत्वा रहो ययौ ।
विलोकिताऽपि सर्वत्र लब्धा नैव महीभुजा ॥३७९॥
ततो बभूवतुः कन्यापितरौ दुःखितौ भृशम् ।
वरोऽपि लज्जितः प्राणांस्त्यक्तुकामोऽभवत् पुनः ॥३८०॥
ततः स्वस्थीकृताः सर्वे इति मन्त्रीश्वरैर्जगुः ।
मासमध्ये शुभमती लभ्यते यदि नैव चेत् ॥३८१॥
तदाऽनशनतोऽस्माभिर्मर्तव्यं रैवताचले ।
ततो दिशो दिशं कन्यां ययुर्द्रष्टुं च सेवकाः ॥ (युग्मम्)

१ गतोऽहं वलभी भ्रमन् ।

अद्यापि कन्यका नैव लब्धा कैश्चिच्च सेवकैः।
तेन सर्वे चलिष्यन्ति परेद्यू रैवतं प्रति ॥३८३॥
भारण्डोऽवग् महाश्चर्यं द्रष्टुं (दृष्टं) पुत्र त्वया स्फुटम्।
द्वितीयस्तनयः प्राहेत्येवं तातपुरस्तदा ॥३८४॥
मया च वामनस्थल्यां गतेनेदं निरीक्षितम्।
कुम्भभूमिपतेः कन्या रूपश्रीर्नामतोऽभवत् ॥३८५॥
अन्धीभूता कनी कर्मयोगतः काष्ठभक्षणम्।
राजानं याचमानाऽपि स्थापिताऽष्टौ दिनानि सा ॥३८६॥
प्रतीकारार्थमानीता अनेके कुशला नराः।
परं तस्या मनाग् नैव गुणो जातोऽस्ति चक्षुषोः ॥३८७॥
ततो विचार्य भूपेन वाद्यते पटहोऽधुना।
यः कश्चित् कुरुते कन्यां पश्यन्तीं च यथा तथा ॥३८८॥
तस्मै ददाति भूपालो नराय मुखमार्गितम्।
तात तत् तत्र नगरे श्रुतं दृष्टं मयाऽपि हि ॥३८९॥

भारण्डः स्थविरो प्राह साऽपि भूमीशनन्दिनी।
पश्यन्ती च भवत्येव स्वौषधादिप्रयोगतः ॥३९०॥
पुत्रः प्राहौषधं किं तत् तेन सा नृपनन्दिनी।
दिव्यदृष्टिर्भवत्येव तात तत् कथयाऽधुना ॥३९१॥
भारण्डोऽवग् मलोत्सर्गं मदीयं घृष्यते यदि।
श्रीमद्गजेन्द्रकुण्डस्य वारिणाऽमावसीदिने ॥३९२॥
तद्रसेन महीपालपुत्र्या अञ्ज्येत लोचने।
तदा सा दिवसे तारामण्डलं वीक्षतेऽखिलम् ॥३९३॥
एतच्चूर्णं सुधावल्लीरसेन मिश्रितं यदि।
क्षिप्यते नेत्रयो रूपपरावृत्तिः प्रजायते ॥३९४॥
एतच्चूर्णं यदा चन्द्रवल्लीरसविमिश्रितम्।
क्षिप्यते नेत्रयोः पूर्वरूपमेव भवेत्तदा ॥३९५॥ यतः—
"अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अनाथा पृथिवी नास्ति आम्नायाः खलु दुर्लभाः" ॥३९६॥

तृतीयस्तनयः प्राह ग्रामे विद्यापुराभिधे ।
सिंहाह्वो हालिकः क्षेत्रे कन्यामेकां समानयत् ॥३९७॥
क्षेत्रे विमुच्य तां कन्यां परिणेतुं च हालिकः ।
ययावुद्वाहसामग्रीं लातुं निजगेहे द्रुतम् ॥३९८॥

गत्वा गृहे द्रुतं भार्यां प्रति प्राह कृषीवलः ।
रे रे त्वयाऽमुकं कार्यं न कृतमित्यहकथयत् ॥३९९॥
त्वया विनाशितं सर्वगृहं सम्प्रति मामकम् ।
परिणेतुं मयाऽनीता नवीना कन्यकाऽधुना ॥४००॥
एवं कर्कशभाषाभिः सन्तर्ज्य तेन भूरिशः ।
निष्काशिता पितुर्गेहे रुष्टा पूर्वप्रिया ययौ ॥४०१॥

आकार्यैकं द्विजं सर्वोद्वाहसामग्रिकायुतः ।
परिणेतुं च तां कन्यां निःससार हली गृहात् ॥४०२॥
क्षेत्रमध्ये महीपालपुत्रीमप्रेक्ष्य हालिकः ।
बभ्राम परितः स्थाने स्थाने शून्यमनास्तदा ॥४०३॥

ततोऽपश्यन् हली कन्यां शून्यचित्तो जगाविदः ।
भो ! विप्रेयं मया कन्याऽऽनीतोद्वाहकृतेऽधुना ॥४०४॥
कारय त्वं मया सार्धमनया पाणिपीडनम् ।
मुक्त्वाऽहं सदनं शून्यमत्रागाम् गम्यते ततः ॥४०५॥

शून्ये गृहे यतो लोकः प्रविश्य हरते धनम् ।
एवं जल्पन् द्विजं क्षेत्रे भ्रामयामास सर्वतः ॥४०६॥ यतः—
"दिवा पश्यन्ति नो घूकाः काको नक्तं न पश्यति ।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवा नक्तं न पश्यति ॥४०७॥
दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितम् ,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा—
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते" ॥४०८॥
ग्रथिलोऽयमिति कृत्वा जगाम वाडवो गृहम् ।
भ्रान्त्वा क्षेत्रं हली पूर्वभार्यापार्श्वे समागमत् ॥४०९॥

प्रोवाचेति प्रिये ! गेहं त्वमागच्छात्मनोऽधुना ।
श्रुत्वैतत् सा प्रिया प्राह नव्याऽऽनीताऽस्ति या त्वया ॥४१०॥
सैव त्वत्सदने सर्वं सुष्ठु कार्यं करिष्यति ।
इत्यादि धर्षितोऽत्यन्तं शून्यचित्तोऽभवद्धली ॥४११॥ यतः-
सद्यो लक्ष्मीप्रियाधान्यापहारे सति मानवाः ।
भवन्ति दुःखिनोऽत्यन्तं चित्ते नूनमनारतम् ॥४१२॥
तूर्योऽवक् तनयस्तात ! भ्रमन् सुन्दरकानने ।
अहमेकतरोर्मूले स्थितो यावत्समाहितः ॥४१३॥
तावद् द्वौ पथिकौ वृक्षाधःस्थितावेत्य कुत्रचित् ।
एकेनोक्तं त्वया किंचित् चित्रं दृष्टं श्रुतं भुवि ॥४१४॥
दृश्यते भवतः श्यामं वदनं साम्प्रतं कथम् ।
किं वा केन हृता लक्ष्मीर्गृहिणी वा निगद्यताम् ॥४१५॥
तेनोक्तं शक्यते नैव वक्तुं दुःखं तवाग्रतः ।
यतः केनापि नो दुःखापहारः क्रियते जने ॥४१६॥ यतः-
"सुखदुःखानां कर्ता हर्ता च न कोऽपि कस्यचिज्जन्तोः ।
इति चिन्तय सद्बुद्ध्या पुरा कृतं भुज्यते कर्म ॥४१७॥
पूर्वकृतसुकृतदुष्कृतवशेन यदिह संपदो विपदः ।
आयान्ति तदन्यस्मिन् कृतेन किं रोषतोषेण" ॥४१८॥
इत्यादि कर्मसूक्तानि
द्वितीयः पुरुषः प्राहात्मनो दुःखं प्रकाशय ।
यतोऽन्यस्य पुरो दुःखे कथिते स्यान्नरः सुखी ॥४१९॥
आद्यः प्राहोज्जयिन्या राट्पुत्रोऽहं वलभीपुरि ।
परिणेतुमगां भूपपुत्रीं शुभमतीं द्रुतम् ॥४२०॥
इत्यादि चरितं कन्यातार्क्ष्यापहरणान्तिकम् ।
कथयित्वाऽऽत्मनोऽशेषं स्थितो यावत् स दुःखितः ॥४२१॥
तावदन्यो जगौ भो ! भो ! दुःखं किं क्रियते हृदि ।
देवदानवगन्धर्वा छुट्यन्ते न हि कर्मणः ॥४२२॥ यतः-
"शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजंगविहंगमबन्धनम् ।
मतिमतां च समीक्ष्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥

जं चिअ विहिणा लिहिअं तं चिय परिणमइ सयललोयस्स ।
इय जाणेविणु धीरा विहुरे वि न कायरा हुंति ॥४२४॥
कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटीशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" ॥४२५॥
विक्रमार्कनृपो मत्वा पुत्रस्य गमनं तदा ।
तन्वानो हृदये दुःखं बभूवेति मतिर्मम ॥४२६॥
आद्यः प्रोवाच किं भूपपार्श्वे [च] गमनेन मे ।
यतश्चाकृतकार्या न शोभन्ते मनुजाः क्वचित् ॥४२७॥
मया मनोजवस्ताक्ष्यो गमितः साम्प्रतं पुनः ।
तेनाहं रैवते शैले प्राणांस्त्यक्ष्यामि निश्चितम् ॥४२८॥
आकर्ण्यैतदहं तत्रात्राऽऽगां तात तवान्तिके ।
भारण्डोऽवक् त्वयाऽपूर्वमाश्चर्यं वीक्षितं सुत ! ॥४२९॥
श्रुत्वैतद्धर्षिता कन्या भारण्डस्य मलोज्झनम् ।
लात्वा नृवेषभृत् ताक्ष्यारूढाऽचालीत्ततस्तरोः ॥४३०॥

आनन्देति निजं नाम कृत्वा सा नृपनन्दिनी ।
प्रययौ वामनस्थल्यां मद्यो मालिकमन्दिरम् ॥४३१॥
त्वं जामिर्मे गदित्वेति नमस्कारपुरस्सरम् ।
मालिकायै ददौ रत्नं[1] बहुमूल्यं मनोरमम् ॥४३२॥
रूपवन्तं कुमारं तमागतं वीक्ष्य मालिका ।
चकार गौरवं तस्य भोजनस्थानदानतः ॥४३३॥
इतस्तत्रागतं वाद्यमानं च पटहं तदा ।
श्रुत्वाऽऽनन्दकुमारोऽवक् किमर्थं पटहध्वनिः ॥४३४॥
पटहोद्घोषणाहेतौ प्रोक्ते मालिकया तदा ।
आनन्दः प्राह पटहं मालिके स्पृश सम्प्रति ॥४३५॥
मालिकाऽवक् किमानन्द शक्तिरत्रास्ति तेऽधुना ।
आनन्दको जगावेवं विचारेण सृतं तव ॥४३६॥
स्पृश त्वं पटहं मद्यो यद्भाव्यं तद् भविष्यति ।
ततः पस्पर्श पटहं मालिका तन्निदेशतः ॥४३७॥

---

१ वर्धमानन्दपुरुषः क ग ।

मालिका पटहस्पर्शं विधायानन्दसन्निधौ ।
समेत्येति जगौ स्पृष्टः पटहो मयका खलु ॥४३८॥
मालिकापटहस्पर्शवृत्तान्तं राजसेवकैः ।
कथितं भूपतिः श्रुत्वा मुदितो मानसे भृशम् ॥४३९॥

भूपादेशात् समागत्य भृत्या मालिकसद्मनि ।
प्रोचुस्त्वं मालिके ! भूपपुत्रीं सज्जीकुरु द्रुतम् ॥४४०॥
श्रुत्वैतन्मालिका मध्येगेहमेत्य जगावदः ।
भो आनन्द ! समुत्थाय सज्जीकुरु नृपाङ्गजाम् ॥४४१॥
आनन्दोऽवक् क्षणं तिष्ठ सुखमेति प्रमीलिका ।
मालिका प्राह भूपालभृत्या ईयुर्मदालये ॥४४२॥

वदन्तीति द्रुतं भूमिपालसद्म समेत्य च ।
सज्जीकुरु महीपालनन्दिनीं चूर्णयोगतः ॥४४३॥ [युग्मम्]
एवं पुनः पुनः प्रोक्त उत्थायानन्दपूरुषः ।
समेत्य भूपसदनं ननामावनिनायकम् ॥४४४॥

हृष्टो राजा जगौ सद्यः कुमार ! मम नन्दिनीम् ।
सज्जीकुरु ततः प्राहानन्दो भूमीपतेः पुरः ॥४४५॥
स्वामिन् ! ददासि किं मह्यमित्युक्ते भूपतिर्जगौ ।
यत्त्वं वक्ष्यसि वक्त्रेण तुभ्यं दास्याम्यहं हि तत् ॥४४६॥

आनन्दः प्राह दास्यामि यस्मै कन्यामहं विभो ! ।
तस्य चेद् वरणं कन्या ममादेशात्करिष्यति ॥४४७॥
राज्ञा निजां पुनः कन्यामेकां ग्रामाष्टकान्विताम् ।
यस्मै च दापयिष्यामि तस्मै त्वं यदि दास्यसि ॥४४८॥
मासं यावत्ततः सप्तयोजनावधि भूतलम् ।
ममैव दीयते चेद्धि तदा सज्जीकरोमि ताम् ॥४४९॥

ततो गत्वा नृपः कन्योपान्ते प्राहेति रङ्गतः ।
आनन्दः पटहं स्पृष्ट्वा मन्मुखादिति जल्पति ॥४५०॥
दापयिष्याम्यहं यस्मै कुमाराय च कन्यकाम् ।
तस्य चेद् वरणं कन्यां मदादेशात्करिष्यति ॥४५१॥

सज्ञातिजां पुनः कन्यामेकां ग्रामाष्टकान्विताम् ।
दापयिष्याम्यहं यस्मै तस्मै त्वं यदि दास्यसि ॥४५२॥
मासं यावत्पुनः सप्तयोजनावधि भूतलम् ।
त्वया चेद्दीयते मह्यं तदा सज्जीकरोमि ताम् ॥४५३॥
कन्या प्राह भवत्वेवं तव तात ! निदेशतः ।
यतोऽङ्गीकुरुते कन्या पितुर्दत्तं वरं मुदा ॥४५४॥
"कन्या विश्राणिता पित्रा यस्मै पुंसे वरोत्सवम् ।
तमेव कन्यका चारुमचारुं वृणुते वरम् ॥४५५॥
आनन्दपुरुषोपान्ते गत्वा भूपो जगावदः ।
सज्जीकुरु द्रुतं कन्यां तव प्रोक्तं करिष्यते ॥४५६॥
गजेन्द्रकुण्डपानीयाद्यानयनपुरस्सरम् ।
शुभेऽह्नि मन्त्रतन्त्रादिसाधनां तनुते स्म सः ॥४५७॥
घृष्ट्वा तदौषधं क्षिप्त्वा कन्यकानेत्रयोः पुनः ।
आनन्दोऽचीकरत्कन्यां पश्यन्तीं तारकान् दिने ॥४५८॥

राजा हृष्टः पुरीमध्ये तलिकातोरणादिभिः ।
महोत्सवं व्यधान्नृत्यं कार्यंश्च पदे पदे ॥४५९॥ यतः–
"पुत्रिका–पुत्र–मित्राणां सुखं सुष्ठु निरीक्ष्य च ।
मातापित्रादयोऽत्यन्तं तन्वते मानसे मुदम्" ॥४६०॥
भूपः प्रोवाच कस्येयं दीयते कन्यका वद ।
आनन्दोऽवक् कियत्कालं प्रतीक्षस्व महीपते ! ॥४६१॥
ततः स्वमार्गिते भूमिस्थाने आनन्दपुरुषः ।
मर्त्तुं ददाति नो पुंसः कस्याप्यनशनादिभिः ॥४६२॥
इतो धर्मध्वजं तत्र दुःखपूरितमानसम् ।
प्राणांस्त्यक्तुं समायातं वीक्ष्यानन्दो जगाविति ॥४६३॥
मामसध्ये न कस्यापि मर्त्तुं दास्याम्यहं ध्रुवम् ।
ततो धर्मध्वजः कृत्वा सन्तोषं तत्र तस्थिवान् ॥४६४॥
महाबलः प्रियायुक्तो विक्रमार्कसुतो हली ।
पृथक् पृथक् क्रमात्तत्रानशनं लातुमाययुः ॥४६५॥

१ मातृपितृयुतं वरं–ग ।

केषामपि मनुष्याणां लातुं नानशनं तदा।
गिरेरुपरि दत्ते च कुमारश्चटितुं मनाक् ॥४६६॥
ततः सर्वेऽपि भूपालादयो लोकाश्च भूरिशः।
बभूवुर्व्याकुलस्वान्ता आगता ये विदेशतः ॥४६७॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य गिरौ धर्मध्वजं स्फुटम्।
आनयामासुरानन्दकुमागन्ते च सेवकाः ॥४६८॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोर्धर्मध्वज! नरोत्तम।
प्राणांस्त्यक्तुमगा ब्रूहि ततो धर्मध्वजो जगौ ॥४६९॥
सपादलक्षदेशोर्वीभूषणात् श्रीपुरात् पुरात्।
गजवाहनभूपस्य सुतो धर्मध्वजाभिधः ॥४७०॥
अहं महाबलक्षोणिपतेः शुभमतीं सुताम्।
परिणेतुमगां यावद् वलभ्यां पुरि मोदितः ॥४७१॥
तावत्सा कन्यका केन देवेन दानवेन वा।
हृता न ज्ञायते तेन प्राणांस्त्यक्तुमगामहम् ॥४७२॥

१ नृपम्-क। २ भूपोपान्तं च-क।

कन्यां विना यदि स्वीयपुरे यास्याम्यहं ननु।
तदा हसन्ति मां सर्वे सज्जनाद्या जनाः स्फुटम् ॥४७३॥ यतः-
माण पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जणकरपल्लविहिं दंसिज्जन्त भमिज्ज" ॥४७४॥
आनन्दः प्राह को मूर्खः स्त्र्यर्थं त्यजति जीवितम्।
भवन्ति भूरिशो भार्या जीवितं कर्हिचिन्नहि ॥४७५॥
रुदता कुत एव मा पुनर्भवता नानुमृतेऽपि लभ्यते।
परलोकजुषां शरीरिणां गतयो भिन्नपथा निवेदिताः ॥४७६॥
"रज्जुग्गहविसभक्खणजलजलणपवेसतण्हछुहदुहओ।
गिरिसिरपडणाउ मया सुहभावा हुंति वंतरया ॥४७७॥
मृते पत्यौ प्रिया काष्ठभक्षणं कुरुते क्वचित्।
न प्रियार्थं प्रियः कुत्रचित् प्राणांस्त्यजति ध्रुवम् ॥४७८॥
भवन्ति कुटिलस्वान्ता नार्यः प्रायो नरोत्तम!।
तेन नैव त्वया खेदः कार्यश्चित्ते मनागपि ॥४७९॥ यतः-

कलहिण्या गृहिण्या भोः! के के नोद्वेजिता जनाः।
साऽत्रागतेति श्रुत्वैव मुक्त्वा पात्रं गतोऽमरः ॥४८०॥
इयं कथा विनोदकथातो वाच्या।
दुर्लभं मानुषं जन्म दुर्लभा जातिरुत्तमा।
कुलं च दुर्लभं चारु जीवितं दुर्लभं पुनः ॥४८१॥
[1]त्यजन्त्येव जना नार्यां मृतायां जीवितं जडाः।
उत्तमा मन्वते शल्यमुद्धृतं देहतः पुनः ॥४८२॥ यतः—
सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति,
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्,
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥४८३॥
"अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता।
निःस्नेहनिर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः" ॥४८४॥

१ त्यजन्ति जीवितं मूढा नार्यर्थे मोहिता जनाः—ग।

धर्मध्वजो जगौ लज्जावशान्नैव पुरे निजे।
गन्तुं मया मनाक् शक्यं मानभङ्गान् नरोत्तम! ॥४८५॥
खेदोऽत्र नहि कर्तव्यस्त्वया धर्मध्वजोत्तम!।
चारुकन्याप्रदानात्ते करिष्येऽहं समीहितम् ॥४८६॥
इत्यादि बहुशो युक्त्या स्वस्थीकृत्य च तं तदा।
वितीर्योत्तारकं तस्मायानन्दः स्वाश्रयं ययौ ॥४८७॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य सिंहं कौटुम्बिकं गिरौ।
आनयामासुरानन्दकुमारान्ते च सेवकाः ॥४८८॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोः सिंह! कौटुम्बिकानघ।
प्राणांस्त्यक्तुमना ब्रूहि ततः सिंहो जगाविदः ॥४८९॥
वलभीतोऽन्यदा कन्यामेकां विद्यापुरे वराम्।
क्षेत्रे निजे समानीय यावदागां पुरान्तरे ॥४९०॥
तावत्सा कन्यका केन देवेन दानवेन वा।
हृता न ज्ञायते रुष्टा पूर्वपत्नी ततो गता ॥४९१॥

तेनाहं दुःखितो भूत्वाऽतीवात्रैव शिलोच्चये।
प्राणांस्त्यक्तुमगां तेनादेशं त्वं देहि मेऽधुना ॥४९२॥
आनन्दः प्राह को मूर्खः स्त्र्यर्थं त्यजति जीवितम्।
भवन्ति भूरिशो भार्या जीवितं कर्हिचिन्नहि ॥४९३॥
दुर्लभं मानुषं जन्म [४८२] ॥४९४॥
त्यजन्त्येव जना नार्यो [४८३] ॥४९५॥
संमोहयन्ति मदयन्ति [४८४] ॥४९६॥ इत्यादि
प्राप्तुं पारमपारस्य पारावारस्य पार्यते।
स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥४९७॥
खेदोऽत्र नहि कर्तव्यस्त्वया सिंह हलीश्वर !।
एकां नारीं वरां तुभ्यं दापयिष्याम्यहं द्रुतम् ॥४९८॥
एवं स्वस्थीकृतः सिंहकर्षकः स्वाश्रयं ययौ।
आनन्दपुरुषोऽपि स्वं स्थानकं समुपागमत् ॥४९९॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य भूमिपालं महाबलम्।

आनयामासुरानन्दकुमारान्ते स्वसेवकाः ॥५००॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोः प्राणांस्त्यज महाबल !।
ततस्तेनोदितं पुत्रीगमनोदन्तमादितः ॥५०१॥
आनन्दः प्राह भवता खेदः कार्यो न चेतसि।
मिलिष्यति सुता शीघ्रमत्रस्थस्य तवोत्तम ! ॥५०२॥
महाबलमहीशेन पुत्रीरूपपरावृतेः।
न ज्ञाता च मनाक् तत्र जल्पन्त्येवं नृरूपभृत् ॥५०३॥
प्राणांस्त्यजन्तमालोक्य विक्रमार्कसुतं गिरौ।
आनयामासुरानन्दकुमारान्ते स्वसेवकाः ॥५०४॥
आनन्दोऽवक् कुतो हेतोः प्राणांस्त्यजसि सत्तम !।
ततस्तेनोदितं सर्वं गमनोदन्तमादितः ॥५०५॥
कन्यां विना० [४७३] ॥५०६॥ यतः-
माण पणट्ठइ [४७४] ॥५०७॥
आनन्दः प्राह [४७५] ॥५०८॥

दुर्लभं मानुषं जन्म [४८२] ॥५०९॥

त्यजन्त्येव जना [४८३] ॥५१०॥ यतः—

सम्मोहयन्ति [४८४] ॥५११॥

कर्तव्यो भवता खेदो न मनाग् मानसे त्वया।
मिलिष्यति प्रिया शीघ्रमत्रस्थस्य तवानघ ! ॥५१२॥

इत्यादि युक्तितः सर्वान् स्वस्थीकृत्य द्रुतं तदा।
हृष्टचित्तो निजे स्थाने जगामानन्दपूरुषः ॥५१३॥

मिलितं सर्वसंयोगं वीक्ष्यानन्दकुमारकः।
गत्वा भूपान्तिके सद्यः प्राहेति मधुरस्वरम् ॥५१४॥

"[1]महुरं निउणं थोवं कज्जावडिअं अगव्वमतुच्छं।
पुव्विं मइसंकलिअं भणंति जं धम्मसंजुत्तम्" ॥५१५॥

धर्मध्वजकुमाराय श्रीसुन्दरमहेशितुः।
पुत्रिकां दापयामास सद्य आनन्दपूरुषः ॥५१६॥

सुष्ठुजातिभवां कन्यामष्टग्रामसमन्विताम्।
सिंहाय दापयामास नृपेणानन्दपूरुषः ॥५१७॥ यतः—

"राज्यं यातु श्रियो यान्तु यान्तु प्राणा विनश्वराः।
या मया स्वयमेवोक्ता वाचा मा यातु शाश्वती ॥५१८॥

[2]अलसंतेण वि सज्जणेण जे अक्खरा समुल्लविआ।
ते पत्थर टङ्कुक्कीरिअ व्व न हु अन्नहा हुंति" ॥५१९॥

एतत् तस्य कुमारस्यौदार्यं वीक्ष्य जगुर्जनाः।
अहो अन्योपकारित्वं विद्यतेऽस्यानघं जने ॥५२०॥ यतः—

"हुंति परकज्जनिरया निअकज्जपरंमुहा फुडं सुअणा।
चन्दो धवलेइ महीं न कलङ्कं अत्तणो फुसइ ॥५२१॥

विरला जाणंति गुणा विरला पिच्छन्ति अत्तणो दोसे।
विरला परकज्जकरा परदुक्खे दुक्खिआ विरला" ॥५२२॥

इत्यादि।

१ मधुरं निपुणं स्तोकं कार्यापतितमगर्वमतुच्छम्। पूर्वं मतिसंकलितं भणन्ति यद् धर्मसंयुक्तम् ॥

२ अलसयताऽपि सज्जनेन येऽक्षराः समुल्लपिताः। ते प्रस्तरे टङ्कोत्कीर्णिता इव नैवान्यथा भवन्ति ॥

स्वयं कन्यां विधायाशु पश्यन्तीं तारकान् दिवा ।
दत्ताऽनेनकुमारेणान्यस्मै परोपकारिणा ॥५२३॥
एवं निजोदितं कार्यं विधायानन्दपूरुषः ।
महाबलमहीशस्य समीपं समुपागमत् ॥५२४॥
महाबलो जगौ भो! भोः! कुमारोत्तम! साम्प्रतम् ।
दत्से नानशनं लातुं किं रैवनशिलोच्चये ॥५२५॥
पूरितो भवता धर्मध्वजस्यादौ मनोरथः ।
ततश्चापूरि सिंहस्य वरकन्याप्रदानतः ॥५२६॥
अस्माकं भवता नैव पूरितोऽत्र मनोरथः ।
दत्से नानशनं लातुं करिष्याम्यधुना किमु ॥५२७॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते महाबलमहीभुजा ।
[[1]आनन्द एकको मध्येगेहं स्थितो रहस्तदा ॥५२८॥
औषधेन वपुः स्वीयं प्रकटीकुरुते स्म सः ।
परिधायाबलावेषं तस्थौ शुभमती पुनः] * ॥५२९॥
वीक्ष्य स्वां तनयां भूपो हृष्टोऽप्राक्षीदिति स्फुटम् ।
हे पुत्रि! त्वं तदा केन हृतेत्यत्र निगद्यताम् ॥५३०॥
ततः शुभमती वृत्तसम्बन्धमात्मनस्तदा ।
मातापित्रोः पुरः शेषं कथयामास रङ्गतः ॥५३१॥
मया स्वशीलरक्षार्थं कृता रूपरावृतिः ।
उपकारः कृतः कन्यासिंहधर्मध्वजाङ्गिनाम् ॥५३२॥
महाबलनृपः प्राह कं वरं वृणुषे सुते! ।
पुत्र्यवग् विक्रमादित्यपुत्रमङ्गीकरोम्यहम् ॥५३३॥
पिता प्राह सुते! सोऽपि कथमैत्यत्र सम्प्रति ।
पुत्र्यवग् विक्रमादित्यपुत्रोऽस्त्यत्र पुरे ननु ॥५३४॥
मया धर्मध्वजात् पूर्वं वरितो विक्रमाङ्गजः ।
एवं च रोचते चित्ते मदीये जनकोत्तम! ॥५३५॥
कुत्रास्तीति महीशोक्ते तदा पुत्री पितुः पुरः ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य स्थितिस्थानमचीकथत् ॥५३६॥

१ कुमारो दर्शयामास निजं रूपं पितुः पुरः । इति गपुस्तकेऽधिकः पाठः । * एतत्कोष्ठान्तर्गतः पाठो गपुस्तके नास्ति ।

ततो महाबलक्ष्मापो विक्रमादित्यसूनवे ।
नानोत्सवं निजां पुत्रीं ददौ मुदितमानसः ॥५३७॥
स्वापहारादि पत्यग्रे प्रोक्त्वा शुभमती तदा ।
मालिकासद्मतश्चेतोजवाश्वमानयत् तदा ॥५३८॥
सपादकोटिमूल्यं सन्मणिं मालिकयोषिते ।
दापयामास कान्तस्य पार्श्वात् शुभमती मुदा ॥५३९॥ यतः–
"सर्वाः सम्पत्तयः सत्यं जायन्ते तस्य जन्मिनः ।
यस्य पूर्वार्जितं पुण्यद्रविणं विद्यते बहु" ॥५४०॥
ततो विक्रमभूपालपुत्र्याद्या निखिला नृपाः ।
ऊर्ध्वं रैवतशैलस्य चलिता नन्तुमर्हतः ॥५४१॥
श्रीनेमिजिनमभ्यर्च्य पुष्पैः स्तुत्वा स्तवैर्वरैः ।
उत्तेरू रैवतस्याद्रेः शिखरात्सुन्दराशयाः ॥५४२॥
ततः सर्वेऽपि भूपालकृपीवलादयस्तदा ।
हृष्टा निजं निजं स्थानं मुत्कलाप्य ययुः क्रमात् ॥५४३॥

शुभमतीप्रियाशाली विक्रमादित्यनन्दनः ।
भूर्यश्वेभयुतोऽवन्तीं प्रत्यचालीत् ततः पुरात् ॥५४४॥
गच्छन् श्रीवैक्रमो वीक्ष्यायान्तमेकं नरं पथि ।
पप्रच्छेति कुतः स्थानादागतोऽसि वदाधुना ॥५४५॥
पान्थः प्राह भृगुपुरं याम्यवन्तीपुरादहम् ।
श्रीवैक्रमो जगौ तत्र काऽस्ति वार्ताऽधुना वद ॥५४६॥
पान्थः प्राह धराधार ! पुराद् भीममहीपतेः ।
पुत्रीं रूपवतीं नाम्ना भट्टमात्रो मनोहराम् ॥५४७॥
श्रीविक्रमचरित्रस्य परिणेतृकृते स्वयम् ।
अवन्त्यां यावदानैषीत् तावत् स कुत्र जग्मिवान् ॥५४८॥
बहुदेशेषु भूपेन प्रेष्य भृत्यान् विलोकितः ।
अद्यापि न स लब्धोऽस्ति वार्ता तस्य च केनचित् ॥५४९॥
ततो रूपवती काष्ठभक्षणं याचते नृपम् ।
वक्तीति कन्यका नान्यं वरमङ्गीकरोम्यहम् ॥५५०॥

ततो भूपादयोऽमात्याः प्रोचुरेवं च तां प्रति ।
मासमध्ये वरो नैव यद्येष्यत्यत्र कन्यके ! ॥५५१॥

तदा त्वया च कर्तव्यं काष्ठभक्षणमञ्जसा ।
इत्युक्त्वा स्थापिता राजपुत्री कष्टेन धीसखैः ॥५५२॥

कन्या कल्ये प्रगे काष्ठभक्षणं मा करिष्यति ।
विक्रमार्कोऽजनि क्ष्मापो दुःखी पुत्रवियोगतः ॥५५३॥

सुकोमला प्रिया पुत्रवियोगादतिदुःखिता ।
न शेते शयने भुङ्क्ते द्विर्वारं न कदाचन ॥५५४॥

अन्येऽपि निखिला लोका मन्त्र्याद्या दुःखिता भृशम् ।
दिशो दिशं प्रपश्यन्ति कुमारागमनं तदा ॥५५५॥

श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यपुत्रः शीघ्रगतिश्चलन् ।
अवन्तीसंनिधौ यावत् द्वितीयाह्न्यगमत् प्रगे ॥५५६॥

इतश्च कन्यका काष्ठभक्षणार्थं नृपाङ्गजा ।
भूपादिलोकसंयुक्ता समागाद् नगराद् बहिः ॥५५७॥

चितां प्रदक्षिणीकृत्य यावत्कन्या प्रविक्ष्यति ।
*तावद् विक्रममार्तण्डपुत्रस्तत्रागमद् द्रुतम् ॥५५८॥

कुमारमागतं श्रुत्वा स्वस्थीकृत्य नृपाङ्गजाम् ।
यावत् तिष्ठति भूपालादयो लोकाः प्रमोदिताः ॥५५९॥

तावदेत्य द्रुतं मातापित्रोः पादाम्बुजद्वयम् ।
श्रीविक्रमचरित्रेण नेमे सद्भक्तिपूर्वकम् ॥५६०॥

विक्रमार्कनृपो रूपवतीं मध्येपुरं तदा ।
आनैषीच्च शुभं शुभमत्या युक्तं महोत्सवम् ॥५६१॥

ततश्चारुतरे लग्ने रूपवत्या समं सुतम् ।
कारयन्नुत्सवं भूमिरमणः पर्यणीणयत् ॥५६२॥

* तावल्लोका जगुः स्वस्थीक्रियतां राजनन्दिनी । कोऽप्येति दूरतो भूरिपरिवारसमन्वितः ॥ तेन क्षणं कनीदानीं मा..........तिष्ठतु स्फुटम् । ततो यावज्जना ऊर्ध्वस्थाने स्थित्वा पुनः पुनः । विलोकन्ते तदा तत्रागमद् विक्रमनन्दनः ॥ –अत्रायं पाठो गपुस्तकेऽधिकः समुपलभ्यते ।

ततः पृथक् पृथक् सप्तभूमिकं धवलालयम् ।
द्वयोश्च स्नुषयोर्भूमिपतिर्हृष्टो ददौ तदा ॥५६३॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽथ मातापित्रोः पुरोऽन्यदा ।
आमूलचूलतः सर्वं स्वचरित्रमचीकथत् ॥५६४॥

"प्रीणाति यः सुचरितैः [सर्ग. ५ श्लो. ४] ॥५६५॥
वस्तूद्दीपयते दीपः प्रत्यक्षं निजतेजसा ।
निष्कलङ्कः पुनः पुत्रः परोक्षानपि पूर्वजान्" ॥५६६॥

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरण–परमगुरुश्रीमुनिसुन्दरसूरि–शिष्यपण्डितश्रीशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरित्रे शुभमती--रूपवतीपाणिग्रहणस्वरूपः पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥

षष्ठः सर्गः ।

अन्येद्युर्विक्रमादित्यः प्रोवाच जननीं प्रति ।
मातर्मत्तोऽधिकः कोऽस्ति सत्त्वादिकलसद्गुणैः ॥१॥
माता जगौ न युज्येत वक्तुमेवं तवाधुना ।
तारतम्यं यतो विश्वे विद्यतेऽखिलदेहिषु ॥२॥ यतः–

"पदे पदे निधानानि योजने रसकूपिका ।
पुण्यहीना न पश्यन्ति बहुरत्ना वसुन्धरा" ॥३॥
आकर्ण्यैवं वचो मातुर्विक्रमार्कनृपस्तदा ।
बलिष्ठं पुरुषं द्रष्टुं चचालासिसखा निशि ॥४॥

विलोकयन् क्षितौ नानाऽऽश्चर्याणि भूरिशो नृणाम् ।
विक्रमार्को ययौ भूपः कस्यचिद् ग्रामसंनिधौ ॥५॥
वृषस्थाने महाव्याघ्रसिंहौ कृत्वा[1] भयंकरौ ।
योक्त्रस्थाने प्रलम्बाही रज्जुं च सर्पिणीमयीम् ॥६॥
कर्षयन् कर्षकं(कः) क्षेत्रं हलेन कमलाभिधः ।
निरीक्ष्य भूभुजा चक्रे चित्ते चमत्कृतिं(तिः) निजे ॥[युग्मम्]
बहुवेलं तदा क्षेत्रं खेटयित्वा[2] कृषीबलः ।
हलमच्छोटयद् यावत् तावत्पृष्टो नृपेण मः ॥८॥
त्वत्तोऽधिकोऽस्ति को भूमौ नरोऽत्र बलवान् खलु ।
हल्यवग् मत्प्रियान्ते यः ममेत्येको नरो निशि ॥९॥
करोति स्म तया सार्धं किंवदन्तीं स दुष्टधीः ।
स मत्तोऽपि[3] बली बाढं निषेद्धुं शक्यते नहि ॥१०॥
विक्रमार्को जगौ गेहे तव संप्रति गम्यते ।
आवाभ्यां तद्बलं सम्यग् रहसि ज्ञास्यते स्फुटम् ॥११॥

हलियुग् विक्रमादित्यः समेत्य हलिमद्मनि ।
तस्थौ जारस्वरूपं च ज्ञातुं कौतुकितो रहः ॥१२॥
सीरिपत्न्या समं कर्तुं वार्तामेत्य स मानवः ।
प्रावर्त्तत स्वयं यावत् तावद् हलियुतो नृपः ॥१३॥
क्रूरप्रविशिखैर्जारं भिनत्ति स्म पुनः पुनः ।
पिङ्गो जगौ लगन्ति स्म मशका मम विग्रहे ॥१४॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यश्चमत्कृतमनास्तदा ।
बिभ्यद् हलियुतोऽचालीत् तत्पृष्टौ(ष्ठे) चलितस्स ना ॥१५॥
हारकप्रमितान् खादन् पृथुकान् बुक्कैंकके[4] ।
हलिन्या विक्रमार्केण तदाऽकस्मान्निराकृतः ॥१६॥
क्षिप्त्वा पृथक् पृथक् गल्लान्तरे विक्रमहालिकौ(के) ।
पूर्ववत् पृथुकान् जग्धुं[5] प्रावर्त्तत हली ततः ॥१७॥
आयातं जारमालोक्य पृथुकान् भक्षयन् हली ।
दधाव सम्मुखं हन्तुं मृगारिरिव रोहिषम् ॥१८॥

१ युङ्क्त्वा **ग** । २ खेटयन् **ग** । ३ मत्तोऽस्ति **ग** । ४ बक्ककैंकके **क ग** । ५ खादन् **ग** ।

बलिष्ठं तं नरं हत्वा हली स्वभुजलीलया ।
गल्लतः कर्षयामास विक्रमादित्यहालिकौ(के) ॥१९॥
विक्रमार्को नृपो दध्यावहो अस्य बलिष्ठता ।
ईदृक्षं न बलं दृष्टं कस्याप्यत्र महीतले ॥२०॥
यावत् श्रीविक्रमो दध्यौ बलमेषां नृणां महत् ।
तावदेकः सुरोऽभ्येत्य स्फुरद्देहद्युतिर्जगौ ॥२१॥
भो विक्रम ! मया स्वर्णप्रभेण मरुता किल ।
बलगर्वं तवच्छेत्तुं हल्यादि दर्शितं समम् ॥२२॥
गर्वो न क्रियते पुंभिर्बले लक्ष्म्यां श्रुते कुले ।
यतो भूमौ भवेत्तारतम्यं सर्वत्र भूपते ! ॥२३॥
गते देवे नृपो मातुः प्रणम्य चरणौ जगौ ।
मातस्तव वचः सत्यं बभूव गदितं स्फुटम् ॥२४॥

इति बलतारतम्यपरीक्षायां कथा ।

अन्यदाऽश्वद्वयं दूरात् सर्वलक्षणलक्षितम् ।
आगतं च तयोर्मध्यादेकस्मिन्नधिरुह्य च ॥२५॥
विक्रमादित्यभूपालोऽमात्यमन्त्रिसमन्वितः ।
उद्याने समगाद् वेगपरीक्षार्थं पुरात्तदा ॥२६॥ [युग्मम्]
अजानानो विपरीतपरीक्षां सहसा नृपः ।
निन्येऽश्वेनाटवीं सिंहव्याघ्रवेतालदारुणाम् ॥२७॥
गत्वा तरोरधो यावदुत्तताराश्वतो नृपः ।
सौकुमार्यतया तावन् मृत्युमाप तुरङ्गमः ॥२८॥
नृपतिस्तं मृतं ज्ञात्वा तृषया बाधितो भृशम् ।
मूर्च्छया पतितो भूमौ शुष्कवृक्ष इवाचिरात् ॥२९॥

१ बलिष्ठो हालिको ह्येवंविधोऽजनि कथं भुवि । यावदेवं नृपो दध्यौ तावद् हल्यादि नेक्षते ॥ तदैको निर्जरः कश्चित् प्रादुर्भूय जगावदः । इदं मया कृतं तावकीनबलमदच्छिदे ॥ अतः परं न कर्तव्यो बलगर्वस्त्वया नृप ! । तारतम्यं समस्त्येव बलविद्यादिवस्तुषु ॥ एवमुक्त्वा सुरे तस्मिन् विद्युतीव गते सति । जगाम विक्रमादित्यो स्वकीयनगरं क्रमात् ॥ प्रणम्य जननीपादौ विक्रमार्को जगावदः । इति गपुस्तकेऽधिकः पाठः ।

तावदेकेन कान्तारवासिनाऽश्वपदेक्षणात्।
तत्रागतेन भूपालस्तदवस्थो निरीक्षितः ॥३०॥
महानेष नरः कश्चिदिति ध्यात्वा सरोवरात् ।
आनीय सलिलं सिक्तः सचेताः क्षितिपोऽजनि ॥३१॥
निरीक्ष्य पुरुषं तं च निष्कारणोपकारिणम् ।
मुदितो मेदिनीनाथः प्रोवाचेति वचस्तदा ॥३२॥ यतः-
"विरला जाणंति गुणा । [सर्ग ५-श्लो. ५२२] ॥३३॥
'दो पुरिसे धरउ धरा अहवा दोहिंपि धारिआ पुहवी ।
उवयारे जस्स मई उवयरिअं जो न फुंसेइ ॥३४॥
हुंति परकज्जनिरया निअकज्जपरंमुहा फुडं सुअणा।
चन्दो धवलेइ महीं न कलङ्कं अत्तणो फुसइ" ॥३५॥
सन्मान्य भूपतिं शैलगुहायां निजसद्मनि ।
नीत्वा पुलिन्द्रकः पत्नीयुक्तो भक्तिमचीकरत् ॥३६॥
पुलिन्द्रकेण भूपालः कणिक्काघृतदानतः ।
बुभुक्षापगमात्स्वस्थीकृतः सन्मानपूर्वकम् ॥३७॥ यतः-
"पानीयस्य रसः शान्तं परान्नस्यादरो रसः ।
आनुकूल्यं रसः स्त्रीणां मित्राणां वचनं रसः ॥३८॥
संकुचन्ति कलौ तुच्छाः प्रसरन्ति महाशयाः ।
ग्रीष्मे सरांसि शुष्यन्ति कामं वार्द्धिस्तु वर्द्धते" ॥३९॥
गृहमध्ये नृपं कृत्वा सुखसुप्तं पुलिन्द्रकः ।
ददौ द्वारे द्विपञ्चाशच्छयोत्सेधां शिलां निशि ॥४०॥
तस्य रक्षाकृते सुप्तो गृहद्वारे पुलिन्द्रकः ।
अन्यत्रस्था पुलिन्द्री चाशृणोद् व्याघ्रारवं बहिः ॥४१॥
उत्थाप्य नृपतिं सद्यः प्रोवाचेति पुलिन्द्रिका।
व्याघ्रेण मारितो नूनं पतिः पूर्वविरोधिना ॥४२॥
अधुना श्रूयते शब्दो बहिर्व्याघ्रस्य दारुणः ।
दत्ता द्वारे द्विपंचाशच्छया पत्या शिला च मे ॥४३॥

१ द्वौ पुरुषौ धरतु धरामथवा द्वाभ्यां धृता पृथिवी । उपकारे यस्य मतिः उपकृतं यो न भ्रंशयति ॥ २ विनिमन्त्य नृपं ग. ।

सा शिला मन्त्रिप्रयेणैव दूरं कर्तुं च शक्यते ।
तेनावां निस्सरिष्यावः कथमस्मान्निकेतनात् ॥४४॥
श्रुत्वैतद् दक्षिणेनांह्रिप्रहारेण शिलां च ताम् ।
अपनीय बहिर्यावत् पश्यति स्म महीपतिः ॥४५॥
तावत् तं च तथाऽवस्थं दृष्ट्वा भूपस्तयाऽन्वितः ।
प्रोवाचेति रुदन् रे ! रे ! कथं दंष्ट्रिन्नयं हतः ॥४६॥
"वेश्याका नृपतिश्चौरो नीरमार्जारदंष्ट्रिणः ।
जातवेदाः कलादश्च न विश्वास्या इमे क्वचित्' ॥४७॥
तदवस्थं पतिं प्रेक्ष्य तदा सद्यः पुलिन्द्रिका ।
मुक्त्वा प्राणैर्विमोहेन यतो मोहश्च बन्धनम् ॥४८॥
तावत्पृष्ठागतेनैव सैन्येन नृपतिः पुरीम् ।
नीतो निषेधयामास सद्यो दानं शुचाऽर्दितः ॥४९॥

इतश्च कतिभिर्मासैः श्रीपतेर्व्यवहारिणः ।
जातमात्रः सुतो वक्ति शुकवद् वचनं स्फुटम् ॥५०॥
आकारितो नृपस्तेनारिष्टं भावीति चिन्तयन् ।
यावन्नायाति तावत्स[1] जनकं प्रति जल्पति ॥५१॥
[2]आनयात्र नृपं शीघ्रं नो चेद् विघ्नं भविष्यति ।
श्रीपतिः स्वगृहे भूपमानयामास वेगतः ॥५२॥
तदा स बालकः प्राह भूपं प्रति स्फुटाक्षरम् ।
निषेधयसि किं दानं दीयमानं शिव[3]प्रदम् ॥५३॥
[4]राजा प्राह मया पूर्वं दृष्टं दानफलं बहु ।
मत्वा महीपतेश्चित्तं बभाषे बालकस्तदा ॥५४॥
शृणु दानस्य माहात्म्यं विक्रमादित्यभूपते ! ।
कणिक्काघृतदानेन जातोऽत्र नगरेऽस्म्यहम् ॥५५॥

---

१ स वचनेनेति धिक्कृतः **ग** । २ घोटकेनोपनीतस्य वनेऽवस्था तवागना। विस्मार्गिताऽधुना भूपः कथं च तादृशी स्फुटम् ॥ आगतः शिशुना पृष्टो भूपः सन्मानपूर्वकम् । **ग** । ३ जनैरिह **ग** । ४ सुपात्रदानतो लोका लभन्ते सुखमद्भुतम् । अमुत्राहमिव क्षोणीपते ! जानीहि सन्ततम् ॥ इति **ग**पुस्तके अधिकः पाठः ।

द्वात्रिंशत्स्वर्णकोटीनां नाथस्य श्रीपतेः सुतः ।
पूर्वं मया ददे दानं भवतः सादरं वने ॥५६॥ (युग्मम्)
भूपतिस्तेन संकेतवचसा मुमुदेतराम् ।
भूपोऽवक् तर्हि भार्याया उत्पत्तिं कथयाधुना ॥५७॥
तेनोक्तं नगरेऽत्रैव दान्ताकव्यवहारिणः ।
सुता जाता मती कान्ता मम भूप ! भविष्यति ॥५८॥
राजा प्राह शिशोर्ज्ञानं कथं जातं तवेदृशम् ।
ततः स बालको देवभाषयेति जगौ स्फुटम् ॥५९॥
एतत्पद्मावती वक्ति मदीयास्येऽवतीर्य च ।
श्रुत्वैतद् नृपतिर्दानोपकारात्तत्परोऽभवत् ॥६०॥
तस्मै बालाय भूपालः पुराणां शतपञ्चकम् ।
दापयामास मन्त्रीशपार्श्वात्सन्मानपूर्वकम् ॥६१॥

इति पुलिन्द्रकथा ।

भाण्डागारिकमुख्यानाममात्यानां पुरोऽन्यदा ।
प्रोवाचेति नृपो यद् यद् याचते मम नन्दनः ॥६२॥
तत् तत् पुत्राय दातव्यं भवद्भिरादरात्सदा ।
ततस्तद् ददते भूपसूनवे मार्गितं धनम् ॥६३॥ [युग्मम्]
दान्ताकश्रेष्ठिनोऽन्यस्य सोमदन्तेन सूनुना ।
श्रीविक्रमचरित्रस्याभवत्प्रीतिर्मिथः क्रमात् ॥६४॥
अन्येद्युर्विक्रमादित्यसूनुर्मित्रसमन्वितः ।
क्रीडां कुर्वन् ययौ बाह्योद्याने सद्वृक्षशालिनि ॥६५॥
धर्मध्यानपरान् धर्मघोषसूरीश्वरांस्तदा ।
उपविष्टांस्तरोर्मूले ददर्श भूपनन्दनः ॥६६॥
गत्वा तत्र तरोर्मूले गुरुं विनयपूर्वकम् ।
उपविष्टोऽग्रतः श्रोतुं धर्मं भूपाङ्गजस्तदा ॥६७॥
धर्मघोषगुरुर्धर्मोपदेशं शिवशर्मदम् ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य पुरतः प्रोक्तवानिति ॥६८॥

अत्र धर्मोपदेशकथा वाच्या ।

१. तत्पन्त्याः ग ।

दानं वित्ताद् ऋतं वाचः कीर्तिधर्मौ तथाऽऽयुषः ।
परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत् ॥६९॥
श्रुत्वा धर्मं गुरोः पार्श्वे विक्रमादित्यनन्दनः ।
दानशीलतपोभावान् पोषयामास सन्ततम् ॥७०॥
[1]आसन्ने परमपए पावेअव्वम्मि सयलकल्लाणे ।
जीवो जिणिंदभणिअं पडिवज्जए भावओ धम्मं ॥७१॥
ततः श्रीविक्रमादित्यपुत्रो देवगृहादिषु ।
भोगं चकार दीनारपञ्चशत्या जिनेशितुः ॥७२॥
शरीरमित्रभार्यार्थं यद्यद् व्ययति नन्दनः ।
न ज्ञायते मनाक् तस्य संख्या संख्यावता पुनः ॥७३॥
[2]ततो भूपान्तिके कोशाध्यक्षा एत्य जगुः स्फुटम् ।
स्वामिंस्त्वत्तनयो भूरिद्रव्यं व्ययति सन्ततम् ॥७४॥
शक्यो वारयितुं नैवास्माभिः स साम्प्रतं मनाक् ।
राज्ञोक्तं न शयः खंचनीयो युष्माभिरेकशः ॥७५॥
यतोऽस्य चरितं सर्वे लोका जानन्ति मूलतः ।
देवानामपि दुर्जेयो विद्यतेऽसौ सुतो मम ॥७६॥
प्रकागद् दास्यते शिक्षा तस्मै मृद्वा गिरैकदा ।
यत्कार्यं साध्यते साम्ना न तत्कर्कशतः कदा ॥७७॥
अन्यदा भूपतिर्देवपूजां कृत्वा द्विधाऽऽदरात् ।
भोक्तुं चोपाविशद् यावत्तावत्पुत्रः समागमत् ॥७८॥
राज्ञोक्तं मम मध्ये त्वं पुत्र ! भोक्तुमुपाविश ।
पितुर्मध्येऽदनं कर्तुमुपविष्टः सुतस्ततः ॥७९॥
अन्तराले नृपः प्राह भो पुत्र ! मन्निदेशतः ।
यावज्जीवाम्यहं तावत्त्वया नित्यं यथारुचि ॥८०॥
दिनागणां शतं पञ्च दिनं प्रति [3]सुधर्मणि ।
व्ययः कार्योऽङ्गभोगादौ भवता च स्वयं तथा ॥८१॥ युग्मम्

१ आसन्ने परमपदे प्राप्तव्ये सकलकल्याणे । जीवो जिनेन्द्रभणितं प्रतिपद्यते भावतो धर्मम् ॥ २ इतो ग । ३ जिनालये. ग ।

आकर्ण्यैतत्कुमारेण चिन्तितं यद् व्ययाम्यहम् ।
तद् रोचते न भूपस्य जल्पनादिति मे मतिः ॥८२॥ यतः–
"सोलसवरिसो पुरिसो लच्छि भुंजेइ जा अ जणयस्स ।
एसो नूणं पुत्तो रिणसंबंधेण संपत्तो" ॥८३॥
उत्तमाः स्वगुणैः ख्याता मध्यमास्तु पितुर्गुणैः ।
अधमा मातुलैः ख्याताः श्वसुरैश्चाधमाधमाः ॥८४॥
इत्यादि ध्यायतस्तस्य भक्तं जातं विषोपमम् ।
उत्थाय सोमदन्तान्ते गत्वा सोऽवग् नृपोदितम् ॥८५॥
अत्र स्थास्याम्यहं नैव गमिष्याम्यन्यनिर्वृति ।
पश्यामि निजभाग्यस्य फलं दूरं गतः पुनः ॥८६॥ यतः–
"न श्रीः कुलक्रमायाता शासने लिखिताऽपि वा ।
खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत वीरभोग्या वसुन्धरा ॥८७॥
दीसइ विविहं चरिअं जाणिज्जइ संजणदुज्जणविसेसो ।
अप्पाणं च कलिज्जइ हिंडिज्जइ तेण पुहवीए ॥८८॥
यो न निर्गत्य निःशेषामवलोकयति मेदिनीम् ।
अनेकाश्चर्यसम्पूर्णां स नरः कूपदर्दुरः ॥८९॥
सभीताः परदेशस्य बह्वालस्याः प्रमादतः ।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥९०॥
अद्य कल्ये परेद्युर्वा गम्यते मयका रहः ।
सुखेनात्र त्वया स्थेयं स्मर्त्तव्योऽहं च सन्ततम् ॥९१॥ यतः–
"उपरि चन्दा तलि कुसुम दूरट्ठिअ वि हसन्ति ।
वाससहसेहिं नवि मिलइ नेहा नत्रि चुकंति ॥९२॥
दूरासन्नं पडिवन्नपालणं सज्जगाण नो जयंति ।
सायरससीण पिच्छह किमंतरं किं च निव्वहणं ॥९३॥
अन्योऽन्यसंदर्शनवारिसिक्तः स्नेहाङ्कुरो नित्यमुपैति वृद्धिम् ।
वियोगदुःखार्ककराभिघातैर्यथा न शुष्येत तथा विधेयम् ॥

१ यद् व्ययामि धनं धर्मकर्मादिष्वहमन्वहम् । तद्-इति क-गपुस्तकेऽधिकः पाठः । २ ०भोज्या ख-ग । ३ दृश्यते विविधं चरितं ज्ञायते सज्जन-दुर्जनविशेषः । आत्मा च कल्यते हिण्ड्यते तेन पृथिव्याम् ॥ ४ सुजण० क-ग । ५ जयन्ति ग ।

[क्व सरसि वनखण्डं पङ्कजानां क्व सूर्यः,
क्व च कुमुदवनं वा कौमुदीबन्धुरिन्दुः ।
दृढपरिचयबद्धा प्रायशः सज्जनाना,
नहि विचलति मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥]
सोमदत्तो जगावीदृग् वचः किं कथ्यते त्वया ।
त्वां विना न क्षणं स्थातुमत्र शक्नोमि साम्प्रतम् ॥९५॥
मायया कुरुते प्रीतिं सोमदत्तो नृपाङ्गजे ।
सोमदत्ते तु भूभृद्भूर्धत्ते प्रीतिमकृत्रिमाम् ॥९६॥ यतः–
मुखं पद्मदलाकारं वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं क्रोधसंयुक्तं त्रिविधं धूर्तलक्षणम् ॥९७॥
सोमदत्तो जगौ स्वामिन् ! यत्र त्वं च गमिष्यसि ।
तत्राहं च समेष्यामि सुखे दुःखे वने रणे ॥९८॥ यतः—
पडिवन्नं दिणयरवासराण दोण्हं पि अखंडिअं निच्चं ।
सूरो न दिणेण विणा दिणो न सूरस्स विरहम्मि" ॥९९॥
ततो भूपाङ्गजः प्राह मित्र ! मैवं वदाधुना ।
यतोऽस्ति दुष्करो मार्गः शीत–ताप–तृषादिभिः ॥१००॥
तेनात्र तिष्ठ मित्र ! त्वमित्युक्ते सुहृदूचिवान् ।
सुखदुःखे च यो मित्रं न त्यजेत् स सुहृन्मतः ॥१०१॥ यतः–
"क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन सहसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वाऽपि मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री भवेदीदृशी ॥१०२॥
पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥१०३॥
मत्वा दृढाग्रहं तस्य खड्गपाणिर्नृपाङ्गजः ।
सोमदत्तयुतो रात्रौ निस्ससार पुराद् बहिः ॥१०४॥
पुरग्रामसरिच्छैलकाननानि पदे पदे ।
पश्यन् नृपाङ्गजो मित्रयुतोऽटव्यां सगे ययौ ॥१०५॥

कुमारस्तृषितः पीत्वा जलं तत्र सरोवरे ।
पालिस्थपादपे पूर्वमेत्य मित्रादुपाविशत् ॥१०६॥
मेलयित्वा बहून् मद्यः कर्करान् [1]सोमदन्तकः ।
[2]कुमारोपान्तमेत्यावग् साम्प्रतं रम्यते किल ॥१०७॥
[3]कुमारोऽथ जगौ द्यूतान्नैरस्यं जायते ध्रुवम् ।
यतो युधिष्ठिरादीनां विरोधोऽभून्मिथः पुरा ॥१०८॥ यतः—
"द्यूतं सर्वापदां धाम द्यूतं दीव्यन्ति दुर्धियः ।
द्यूतेन कुलमालिन्यं द्यूताय श्लाघतेऽधमः ॥१०९॥
राज्यच्युतिं वल्लभया वियोगं, द्यूतानलः प्राप गतोरुभोगम् ।
प्रचण्डितामण्डितबाहुदण्डास्ते पाण्डवाः प्रापुररण्यवासम् ॥
करघट्टा नह पण्डुरा सज्जण दूरी हुन्ति ।
सूनां देउल सेवीइं तुज्ज पसाइं जूअ ॥१११॥
द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्यं परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥"

सोमदन्ताग्रहाद् भूपपुत्रे दीव्यति कर्करैः ।
सोमदन्तो जगौ मित्र! लम्भनेनात्र रम्यते ॥११३॥
विना न लम्भनं द्यूतं भातीन्दुमित्र यामिनी ।
तेनातो लम्भनं किंचित् कृत्वा मित्र! च रम्यते ॥११४॥
कर्करान् यः शतं द्यूताद् हारयत्यत्र सम्प्रति ।
तेनैकं हार्यते नेत्रं प्रतिज्ञेत्यावयोरिह ॥११५॥
दीव्यताऽथ कुमारेणैकस्मिन्नेत्रे च हारिते ।
सुहृत्प्राहाधुना द्यूतरमणेन सृतं खलु ॥११६॥
वालयिष्याम्यहं नेत्रमित्युक्त्वा विक्रमार्कभूः ।
अहार्षीन्नयनं दीव्यन् द्वितीयमपि तत्क्षणात् ॥११७॥ यतः—
दीव्यतां देहिनां द्यूते ध्यायतां पश्यतां स्त्रियम् ।
अन्धत्वं जायते नेत्रे हृदयस्य च निश्चितम् ॥११८॥
जिते नेत्रद्वये सोमदन्तः प्रीतिपराङ्मुखः ।
लोचनद्वितयं लातुं दध्यावेवं पुनः पुनः ॥११९॥

---

१ भूपनन्दनः ग । २ प्रोवाचेत्यागतं मित्रं रम्यते साम्प्रतं मनाक् ग । ३ सोमदन्तो ज–ग । ४ मित्रोऽवगुण्ठ्यते द्यूतान्नैरस्यं हि भविष्यति ग ।

मार्गितेनाधुना किं मे नेत्रयुग्मेन मित्रनः।
भविष्यति यदा राज्यं मार्गयिष्याम्यहं तदा ॥१२०॥
लोचनानर्पणे राज्यमस्वाश्वादिविराजितम्।
कृत्वा छलमहं सद्यो ग्रहीष्यामि ततः स्फुटम् ॥१२१॥ यतः-
"खलः सत्क्रियमाणोऽपि ददाति कलहं सताम्।
दुग्धधौतोऽपि किं याति वायसः कलहंसताम् ॥१२२॥
विशिष्टकुलजातोऽपि यः खलः खल एव सः।
चन्दनादपि सम्भूतो दहत्येव हुताशनः ॥१२३॥
राईसरिसवमित्ताणि परच्छिद्दाणि पासइ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतो वि न पासइ ॥१२४॥
[रासभो यदि तुरंगमायते,
वायसो यदि च कोकिलायते।
हंसवद् यदि बकोऽपि जायते।
दुर्जनस्तदिह सज्जनायते ॥]

कुमारोऽथ चलन्मार्गे यद्यद् वस्तु मनोरमम्।
प्राप तत्तत्स्वमित्राय दत्त्वैव खादति स्वयम् ॥१२५॥
एवं कुर्वन् सदा प्रीतिं कुमारः सुहृदे स्वयम्।
सुन्दराह्ववने पश्यन् कौतुकानि ययौ क्रमात् ॥१२६॥
सरोवरे पयःपूर्णे नीरं पीत्वा नृपाङ्गजः।
मित्रयुक्तः समागत्य तस्थौ पालितरोरधः ॥१२७॥
कुर्वन् गोष्ठीं तदा सोमदन्तो हास्याज्जगावदः।
त्वन्नेत्रे स्तो मम क्षुन्निवारितन्वान्नृपाङ्गज! ॥१२८॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यसूनुश्छुरिकयेक्षणद्वयम्।
कर्षयित्वाऽऽशु मित्राय दत्त्वा चेदं जगौ पुनः ॥१२९॥
[न सदश्वाः कशाघातं न सिंहा घनगर्जितम्।
परङ्गुलिनिर्देशं न सहन्ते मनस्विनः ॥]
उद्धारः क्रियतेऽस्माभिर्नैव कुत्र कदाचन।
दृष्ट्वाऽसमञ्जसं सोमदन्तः प्राह छलादिति ॥१३०॥

भो मित्र! भवताऽकस्मादिदं किं विहितं स्फुटम्।
मयेह हसितं नूनमावां स्यावोऽधुना कथम् ॥१३१॥
मुक्ताऽवन्तीपुरी दूरे व्यालव्याप्तमिदं वनम्।
मरिष्यावोऽधुना नूनं भवतो नयने विना ॥१३२॥
इत्यादि बहुशो मायां सोमदन्तः करन् स्फुटम्।
खेदःकुक्षिम्भरिर्गाढं खेदयामास पक्षिणः ॥१३३॥
हास्यं वितन्वतेदानीं मया स्वामिन् नृपाङ्गज!।
दुःखाब्धौ पातितोऽपारे नेत्रकर्षणतोऽधुना ॥१३४॥
अविमृश्य त्वया स्वामिंस्तादृशं विहितं द्रुतम्।
अविमृश्य कृतं कार्यं दुःखाय जायते नृणाम् ॥१३५॥
"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः" ॥१३६॥
कुमारः प्राह भो मित्र! कस्यापि नैव दूषणम्।
ममैव कर्मणो दोषोऽस्तीति दुःखं कुरुष्व मा ॥१३७॥ यतः—

"ये वज्रमयदेहास्ते शलाकापुरुषा अपि।
न मुच्यन्ते विना भोगं स्वनिकाचितकर्मणः ॥१३८॥
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुधावति ॥१३९॥
हसन्तो हेलया कर्म यत्कुर्वन्ति प्रमादिनः।
जन्मान्तरशतैरेते शोचन्तेऽनुभवन्ति तत्" ॥१४०॥
मदीयपदबन्धेन हे मित्रात्रावयोः खलु।
भविष्यति द्रुतं मृत्युस्तेन त्वं व्रज सम्प्रति ॥१४१॥
मित्रं दध्याववयं नूनमत्रस्थश्च मरिष्यति।
अहं मुधा मरिष्ये नु कथमत्र स्थितो वने ॥१४२॥
एवं विचिन्त्य दुष्टात्मा सोमदन्तो जगावदः।
सुहृन्मम पदौ गन्तुं वहतो न मनागपि ॥१४३॥ यतः—
"मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि।
वेश्यानामिव नीचानां स्वभावो विद्यते सदा" ॥१४४॥

कुमारः प्राह सरलस्वभाव इति तं प्रति ।
हे मित्र ! वत्सल ! स्वच्छ ! किं न मे वचनं कुरु ॥१४५॥
"वचने मानसे काये क्रियायामपि सन्ततम् ।
स्वभावो विद्यते तुल्य उत्तमानां तनूमताम् ॥१४६॥
अहितं मानवे नित्यं कुर्वाणेऽपि निरन्तरम् ।
हितमेव वितन्वन्ति स्वदेहेनोत्तमा नराः ॥१४७॥
अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम् ॥१४८॥
उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सुजनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः ॥१४९॥"
कृत्रिमस्नेहवान् सोमदन्तो भूपाङ्गजक्रमौ ।
प्रणम्य स्वेच्छयाऽचालीत् ततः स्थानाद् दुराशयः ॥१५०॥ यतः
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः, शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः ।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः,
सर्वः कार्यवशाज्जनो हि रमते कः कस्य को वल्लभः" ॥
तत उत्थाय भूपालपुत्रोऽन्यस्य तरोरधः ।
गत्वा शनैः शनैः सायमुपविष्टः समाहितः ॥१५२॥
वृद्धस्तस्मिन् तरौ भारद्वाजः पुत्रशतान्वितः ।
वसति स्म पुरा नित्यं निशीथिन्यां समाधिना ॥१५३॥
दिने दिशोदिशं सर्वे पुत्रा गच्छन्ति दूरतः ।
फलं सायं समागत्यैवैकं नत्वा पितुर्ददुः ॥१५४॥
भारद्वाजो जगौ कोऽस्तीत्यतिथिरत्र साम्प्रतम् ।
श्रुत्वैतद् भूपभूः प्राह तातातिथिरहं पुनः ॥१५५॥
भारद्वाजो जगौ कस्त्वमित्युक्ते प्राह भूपभूः ।
दीनो दुःस्थः कृपापात्रमत्रानीतोऽस्मि कर्मणा ॥१५६॥
भारद्वाजो जगौ पुत्रातिथिमत्र समानय ।
तेनोत्थाय पितुः पार्श्वे समानीतोऽतिथिर्द्रुतम् ॥१५७॥

१ हताशयः प्र ।

भारद्वाजो ददौ तस्मै फलानि तावदादरात् ।
यावदाकण्ठमापूर्णहृदयो भूपभूरभूत् ॥१५८॥
उत्तार्याधः कुमारोऽथ मोचितः पक्षिणा तरोः ।
एवं कुर्वन् फलाहारं नित्यं तस्थौ समाधिना ॥१५९॥
भारद्वाजोऽन्यदा पुत्रमुत्सूरे च समागतम् ।
अप्राक्षीत् किं भवानागाद् वेलातिक्रमणान्निशि ॥१६०॥
भारद्वाजसुतः प्राह कनकाह्वपुरेऽनघे ।
ताताहमागमं कुर्वन् स्वयं क्रीडां वने वने ॥१६१॥
तस्मिन् कनकसेनोर्वीपतेर्भार्याऽभवद् रतिः ।
कनकश्रीस्तयोः पुत्री बभूवान्धा स्वकर्मतः ॥१६२॥
क्रमाद्यौवनमापन्ना यावता काष्ठभक्षणम् ।
गच्छन्ती चाद्य भूपेन स्थापिता दश वासरान् ॥१६३॥
कन्यां द्रष्टुं पुरीलोकास्तत्रेयुर्बहवस्तदा ।
स्थितोऽहं वीक्षितुं तां च तेनोत्सूरो ममाजनि ॥१६४॥

तात[1] तस्याः कथं मञ्जीक[2]रिष्येते विलोचने ।
पिता प्राह मलोत्सर्गं ममान्ते यत्करोम्यहम् ॥१६५॥
स[3] चेत्सुधालतापत्ररसमिश्रीकृतः प्रगे ।
तस्या नयनयोरेकवारं पुंसा प्रक्षिप्यते ॥१६६॥
तदा सा कन्यका तारा वीक्षते दिवसे दिवि ।
उपकारः कृतः पुंभिर्यतो भवति सौख्यदः ॥१६७॥
श्रुत्वैतन्निशि भूपालपुत्रः प्रातः प्रमोदितः ।
मलोत्सर्गरसेनाशु मञ्जीचक्रे स्वलोचने ॥१६८॥ यतः—
अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ।
[4]अनाथा पृथ्वी नास्ति आम्नायाः खलु दुर्लभाः ॥१६९॥
मन्त्रतन्त्रौषधीरत्नमुख्यपदार्थसन्ततेः ।
अचिन्त्यो विद्यतेऽत्यन्तं प्रभाव उत्तमो भुवि ॥१७०॥
ताराः पश्यन् दिने भूपपुत्रः प्रक्षालिताम्बरः ।
भारद्वाजमलोत्सर्गगुटिका बहुशो ललौ ॥१७१॥

१ ततस्त-ग । २ करिष्यतो ग । ३ अञ्ज्येते नयने तस्यास्तद्रसेन स्फुटं यदि ग । ४ अधना ख ।

कुमारं तादृशं वीक्ष्य भारद्वाजो जगावदः ।
नवीनो विद्यते वेषः कुतोऽद्य भवतो वद ॥१७२॥
कुमारः प्राह भवतः प्रसत्तिः फलिताऽद्य मे ।
सुख्यभूवमहं बाढं तत्तत्फलप्रदानतः ॥१७३॥
यद्यादेशो भवेत्तात ! त्वदीयो मम सम्प्रति ।
तदा तत्र पुरे गत्वा कन्यां मङ्गीकरोम्यहम् ॥१७४॥
भारुण्डः प्राह यद्येवं तर्हि त्वं तिष्ठ साम्प्रतम् ।
ममापत्यानि सर्वत्र गच्छन्ति च सदा प्रगे ॥१७५॥
कथयिष्याम्यहं सूनोरेकस्य पुरतो निशि ।
कनकाह्वपुरे मध्येपक्षं कृत्वा नरं नय ॥१७६॥
आत्मस्थाने स्थितो भूरिदिनान्येष नरः सुखम् ।
परोपकारकुशलो विद्यते जगदुत्तमः ॥१७७॥ यतः—
शास्त्रं बोधाय दानाय धनं धर्माय जीवितम् ।
वपुः परोपकाराय धारयन्ति मनीषिणः ॥१७८॥

वरं करीरो मरुमार्गवर्त्ती, यः पान्थसार्थं कुरुते कृतार्थम् ।
कल्पद्रुमैः किं कनकाचलस्थैः परोपकारप्रतिलम्भदुःस्थैः ॥१७९॥
विरला जाणन्ति गुणा विरला पिच्छंति अत्तणो दोसे ।
विरला परकज्जकरा परदुक्खे दुक्खिया विरला ॥१८०॥
यात्रार्थं भोजनं येषां दानार्थं च धनार्जनम् ।
धर्मार्थं जीवितं येषां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१८१॥
शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥१८२॥"
मध्येपक्षं विधायाशु तं यावत्तनयोऽचलत् ।
भारद्वाजो जगौ तावदेवं भूपाङ्गजं प्रति ॥१८३॥
वत्स ! त्वं स्वच्छचित्तोऽत्र स्थितोऽसि वल्लभो मम ।
तेन त्वया सदा चित्ते स्मर्त्तव्योऽहं निजात्मवत् ॥१८४॥ यतः
"सव्वो जणो पच्चक्खदंसणे कुणइ निब्भरं नेहं ।
सो सुअणो जो दूरट्ठिआण पालेइ पडिवन्नं ॥१८५॥ इत्यादि"

१ पुत्रो यावताऽ—ग । २ सर्वो जनः प्रत्यक्षदर्शने करोति निर्भरं स्नेहम् । स सुजनो यो दूरस्थितानां पालयति प्रतिपन्नम् ॥

कुमारोऽवक् त्वया तात ! सत्कर्व्योऽहमनारतम् ।
ततो भारुण्डपुत्रेण स नीतः कनके पुरे ॥१८६॥
मुत्कलाप्य कुमारं स पक्षी चुण्यर्थमीयिवान् ।
ततः सद्भूषणो भूपसूनुः श्रीदापणे ययौ ॥१८७॥

कृष्णास्यं श्रेष्ठिनं वीक्ष्य पप्रच्छेति नृपाङ्गजः ।
किमर्थं भवतः श्रेष्ठिन् ! विद्यते श्यामलं मुखम् ॥१८८॥
श्रीदोऽवक् शक्यते नैव वक्तुं सम्प्रति सत्तम ! ।
ममास्ति मदनः पुत्र एको दीव्यत्तनुच्छविः ॥१८९॥
रोगग्रस्तः कुरूपोऽभूदधुना दैवतः सुतः ।
उपचाराः कृताः पूर्वं भूरिशः सोऽपि तादृशः ॥१९०॥

कुमारोऽवग् मनाग् दुःखं कार्यं श्रेष्ठिंस्त्वया नहि ।
दिव्याङ्गं ते करिष्यामि सूनुमौषधयोगतः ॥१९१॥
ततो भूपसुतो गत्वा श्रीदश्रेष्ठिनिकेतने ।
सज्जीचकार तत्पुत्रं नानाडम्बरपूर्वकम् ॥१९२॥

ततः श्रीदो व्यधात् तस्य गौरवं भोजनादिभिः ।
श्रीविक्रमचरित्रोऽपि तस्थौ तत्र समाधिना ॥१९३॥यतः—
"विदेशान्तरितस्यापि भाग्यं जागर्त्ति तद्वतः ।
अभ्रे तिरोहितस्यापि भानोर्भासस्तमोपहाः ॥१९४॥

इतः पितरमापृच्छ्य कनकश्री नृपाङ्गजा ।
अश्वारूढाऽचलत्काष्ठभक्षणार्थं नृपाध्वनि ॥१९५॥
तावत्तूर्यारवं श्रुत्वा भूरिशो भामिनीजनाः ।
मुक्त्वा निजं निजं कार्यं कन्यां द्रष्टुं समाययुः ॥१९६॥ यतः
"तिअहं तिण्णि पीआरडां कलि कज्जल सिंदूर ।
तिअहं तिण्णि अइवल्लहां दूध जमाइ तूर" ॥१९७॥

श्रुत्वा तूर्यारवं प्राह श्रेष्ठिनं प्रति वैक्रमः ।
किमर्थं बहवो लोका मिलितास्सन्ति सम्प्रति ॥१९८॥
आदितो भूमिभुक्पुत्रीवृत्तं श्रेष्ठी ह्यचीकथत् ।
ततश्च वैक्रमः शीर्षमधूनयत् पुनः पुनः ॥१९९॥

श्रेष्ठी प्राह शीरःकम्पकारणं कथ्यतां मम ।
कुमारोऽवग् मुधा कन्या सम्प्रत्यत्र मरिष्यति ॥२००॥
श्रेष्ठ्यवग् विद्यते कोप्युपायोऽत्र सत्तमाधुना ।
येनैव कन्यका दिव्यनेत्रा सद्यो भविष्यति ॥२०१॥

ओमित्युक्ते कुमारेणोत्थाय श्रीदस्ततः क्षणात् ।
गत्वा भूपान्तिके प्राह पुत्री सम्प्रति वाल्यनाम् ॥२०२॥
एको वैदेशिकश्चारुवृत्तो मद्गृहमाययौ ।
स एव कन्यकां दिव्यचक्षुर्षीं च करिष्यति ॥२०३॥
श्रुत्वैतद् भूपतिः सद्यः प्राहेति पुत्रिकां प्रति ।
एको वैदेशिको दिव्यनेत्रां त्वां च करिष्यति ॥२०४॥

तेन पश्चात्समागच्छेत्युक्त्वा भूपः पुनः पुनः ।
कष्टेनैव निजावासमानयामास पुत्रिकाम् ॥२०५॥
राजा प्रोवाच भोः श्रेष्ठिन् ! सज्जां कारय पुत्रिकाम् ।
श्रेष्ठ्यवग् तस्य वैद्यस्य स्वामिन् किं दास्यते त्वया ॥२०६॥

राजाऽवक् तस्य वैद्यस्य दास्ये राज्यार्द्धमञ्जसा ।
ततो वैक्रमदोषज्ञो भूपपार्श्वे समाययौ ॥२०७॥
तमौषधं च दोषज्ञः क्षिप्त्वा तस्या विलोचने ।
पश्यन्तीं कन्यकां चक्रे नानाडम्बरपूर्वकम् ॥२०८॥

ततो भूपो व्यधात्पुर्यामुत्सवं नर्त्तनादिभिः ।
वैद्यं दिव्यतनुं दृष्ट्वा भूपपुत्री जगाविति ॥२०९॥
अस्मिन्भवेऽस्य वैद्यस्य करिष्यामि करग्रहम् ।
नो चेद् वह्नौ प्रविक्ष्यामीत्युक्ते प्रोवाच भूपतिः ॥२१०॥
हे पुत्रि ! कुलगोत्रादिसम्बन्धो ज्ञायतेऽस्य न ।
तेनास्मै त्वं कथं दास्ये इत्युक्ते कन्यका जगौ ॥२११॥

विचारो नैव कर्त्तव्यस्तातात्र साम्प्रतं त्वया ।
भवेऽस्मिन्नस्य वैद्यस्य करिष्ये पाणिपीडनम् ॥२१२॥
नो चेदग्नौ प्रविक्ष्यामीत्युक्ते प्राहावनीपतिः ।
भो अमात्या इयं कन्या मदुक्तं नैव मन्यते ॥२१३॥

तेन मन्त्रतोऽन्यत्रागमभूमिधरादिषु ।
गत्वा यूयं च वैद्यस्य दत्त पुत्रीं दुराशयाम् ॥२१४॥
ये च सन्ति द्विषो दुःखसाध्याः सम्प्रति भूमिपाः ।
तेषां देशो मदादेशाद् दत्त यूयं वराय च ॥२१५॥
भूपादेशात्तदा सद्यो गत्वोद्याने च कन्यकाम् ।
भूपोक्तं च ददुर्देशं तस्मै वैद्याय मन्त्रिणः ॥२१६॥
भूपभूदत्तद्रव्येण कारयित्वा महद् गृहम् ।
चित्रशालादिरोचिष्णु तत्रास्थान्स प्रियासखः ॥२१७॥
ततोऽमात्यैर्नृपालाय तत्सर्वं कथितं द्रुतम् ।
राजाऽवक् पुत्रिका दुःखभागिनी भविता भृशम् ॥२१८॥
उपकारो मया पुत्र्याः कृतः सञ्जीविधानतः ।
असौ मम कृतं नैव मन्यते वैरिणी सुता ॥२१९॥ यतः-
"माता पिता सुतः पुत्री सुहृत् सज्जनसेवकौ ।
आत्मार्थं सततं कर्त्तुं मिलन्त्येकत्र हर्षिताः ॥२२०॥

इतो वैद्येन लेखेन ज्ञापितं द्वेषिनामिदम् ।
आगत्यात्र मदीयाज्ञामङ्गीकुर्वन्तु तत्क्षणात् ॥२२१॥
मया भूमिपतेः पुत्री परिणीता सदुत्सवम् ।
भूपेन विषया दत्ता एते च भवतां पुरा ॥२२२॥
अभूवं भवतां स्वामी वैद्योऽहं दैवयोगतः ।
तेन मम समागत्य सपर्यां कुरुतादरात् ॥२२३॥
नो चेदहं करिष्यामि भवतां निग्रहं द्रुतम् ।
श्रुत्वैतन्निखिलैर्द्विड्भिरेकीभूयेति चिन्तितम् ॥२२४॥
यैरुत्तमकुलोत्पन्नभूपतेर्बलशालिनः ।
न मनाग् विहिता सेवा पूर्वं कुत्रापि कस्यचित् ॥२२५॥
तैरस्माभिरसौ वैद्योऽधमजातिमुद्धुरः ।
अज्ञातकुलवंशश्च कथं सेविष्यतेऽधुना ॥२२६॥ यतः-
"अन्यस्मादपि लब्धोष्मा नीचः प्रायेण दुस्सहो भवति ।
न[1] तपति रविरिह तादृग् यादृगयं वालुकानिकरः ॥२२७॥

[1] तादृग् न दहति रविरिह दहति यथा वालुकानिकरः घ ।

नीच उच्चैः पदं प्राप्य न माति मानसे मनाग् ।
वर्षास्विव प्रवाहो हि नद्या लब्ध्वा जलं तटे ॥२२८॥
[गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः ।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते ॥]
विमृश्येत्यरिभिस्तस्मै ज्ञापितं निजसेवकात् ।
करिष्यामो वयं नैव निदेशं भवतो मनाग् ॥२२९॥
काऽपि शक्तिर्भवेच्चेत्ते तदाऽऽगच्छात्र सम्मुखम् ।
नो चेत्त्वं मौनमाधाय तिष्ठ तत्रैव वैद्यराट् ॥२३०॥
एतद्राज्यार्धदानेन वाहितस्त्वं महीभुजा ।
देवानामपि दुर्ग्राह्या वयं दुर्गादिना खलु ॥२३१॥
श्रुत्वैतद् वैद्यराट् सद्योऽवशी(श्यी)करणविद्यया ।
आदौ मुख्यद्विषद्गेहे जगामातुलविक्रमः ॥२३२॥ यतः-
"एकोऽहमसहायोऽहं कृशोऽहमपरिच्छदः ।
स्वप्नेऽप्येवंविधा चिन्ता मृगेन्द्रस्य न जायते ॥२३३॥
सीह सउण न चंदबल नवि जोइ धणरिद्धि ।
एकल्लउ लक्खिहिं भिडइ जिहां साहस तिहां सिद्धि" ॥२३४॥
सुप्तस्य वैरिणः कण्ठं गृहीत्वा वैद्यराड् जगौ ।
भो भो द्विषन् ! मदीयाज्ञामङ्गीकुरुष्व साम्प्रतम् ॥२३५॥
नो चेदसौ मदीयोऽसिस्त्वदीयं कण्ठकन्दलम् ।
छेत्स्यति तत्क्षणात् तीक्ष्णधारः कमलनालवत् ॥२३६॥
यः कश्चित् तव देवोऽस्ति स्मर्यतां स त्वयाऽधुना ।
अहं वैद्योऽस्मि निःशेषवैरिरोगोपशान्तये ॥२३७॥
श्रुत्वैतत्कम्पमानाङ्गः स वैरीति जगौ तदा ।
भो ! भोः ! सात्त्विक ! मां मुञ्च सेविष्येऽहं तव क्रमौ ॥२३८॥
वैद्यः प्राहाद्य मुक्तोऽसि जीवंस्त्वं कृपया मया ।
वशीकरोम्यहं सर्वान् देवदानवमानवान् ॥२३९॥
कनकाह्वपुरोद्याने कल्ये यदि प्रगे द्रुतम् ।
समेष्यसि न सेवायै मम त्वं च सुभक्तितः ॥२४०॥

तदाऽसौ करवालो मे त्वदीयं कण्ठकन्दलम् ।
छेत्स्यति तत्क्षणात्तीक्ष्णधारः कमलनालवत् ॥२४१॥
मुख्यो वैरी तदा तस्य वैद्यस्य शासनं द्रुतम् ।
प्रतिपद्य जगौ स्वामिंस्तवातः सेवकोऽभवम् ॥२४२॥
एवं सर्वद्विषां सौवं दर्शयित्वा पराक्रमम् ।
कृतकृत्यस्ततो वैद्यो बाह्योद्यानमगान्निशि ॥२४३॥
आकार्य सेवकान् वैद्यकुमारः प्रोक्तवानिति ।
चारुचित्रैः सभां सर्वां यूयं कुरुत मञ्जुलाम् ॥२४४॥
कल्ये सर्वे द्विषः प्रातः कार्यं मुक्त्वा निजं निजम् ।
सेवां कर्तुं समेष्यन्ति मदीयामादराद् द्रुतम् ॥२४५॥
तेषां प्रत्यर्प्पणायाशु ताम्बूलं वसनादिकम् ।
वैद्यराडानयामास प्रेष्य पुर्यां स्वसेवकान् ॥२४६॥
अद्यायास्यति विद्वेषिवर्गोऽत्र मां निषेवितुम् ।
ध्यात्वेति चित्रशालायामुपाविशत्स वैद्यराट् ॥२४७॥

वैद्यराट्चेष्टितं मत्वा भूपभृत्या नृपान्तिके ।
यावज्जगुः प्रगे तावत् भूपोऽवग् मन्त्रिणां पुरः ॥२४८॥
अहो अद्यापि वैद्यस्य न भृत्या न तुरङ्गमाः ।
नेभाः सन्तीति यद्वक्ति तन्मूर्खस्य हि लक्षणम् ॥२४९॥ यतः—
"मूलग कुदंडगा दामगाणि उच्छूल घंटिआओ अ ।
पिंडेइ अपरितंतो चउप्पया नत्थि अ पसू वि" ॥२५०॥
ज्ञापिता भूभुजा पुत्रीत्येवं किं तेऽधुना पतिः ।
बभूव ग्रथिलः किंवा वाते सुष्वाप किं वने ॥२५१॥
ज्ञापितं सुतया भर्त्ता विद्यते मे विचक्षणः ।
श्रुत्वैतद् भूपतिर्यावन्निःससार पुराद् बहिः ॥२५२॥
इतो दृष्ट्वा द्विपस्तावत् सर्वे स्वस्वबलान्विताः ।
गृहीतोपायना वैद्यं नन्तुमुद्यानमाययुः ॥२५३॥
रत्नस्वर्णतुरङ्गादि ढौकनीकृत्य तत्क्षणात् ।
सर्वे ते विद्विषो वैद्यनाथं नेमुः सुभक्तितः ॥२५४॥

१ सभासीनं प्रगे वैद्यंभृत्यादाकर्ण्य भूपतिः। वैरिणामागमं ज्ञात्वा मन्त्रिणां पुरतो जगौ गपुस्तके। २ मूर्खत्वं यूयं पश्यत पश्यत ग।

कृत्वा केऽप्यञ्जलिं वैद्यनाथस्य पुरतः स्थिताः ।
चिक्षिपुः केऽपि वातं च व्यजनेन प्रमोदिताः ॥२५५॥
केऽपि विश्रामणां चक्रुः पादयोर्वैद्यभूपतेः ।
केऽपि जयजयेत्यादिशब्दं भङ्क्त्वा व्यधुस्तदा ॥२५६॥
दृष्ट्वैतद् भूपतिर्हृष्टो दध्याववेवं पुनः पुनः ।
जामाताऽयं महान् जातो ममाद्य सत्पराक्रमः ॥२५७॥
पुनर्भूपः क्षणाद् दध्यौ नायं चास्य पराक्रमः ।
किं त्वेतन्मत्सुताचारुप्रभावस्य विजृम्भितम् ॥२५८॥
स्वभावेन पदं प्रौढं प्राप्य नीचा नराः सदा ।
आडम्बरं वितन्वन्ति गर्वपर्वतमाश्रिताः ॥२५९॥
मम पुत्र्याः प्रसादेन महत्त्वं गमितो जनैः ।
अयं वैद्यो न देहेऽपि माति गेहेऽपि हर्षितः ॥२६०॥
यद्यपि विद्विषोऽशेषा नमन्त्यस्य पदाम्बुजम् ।
तथापि वैद्यनाथस्य नीचत्वं याति नो कदा ॥२६१॥ यतः—

न टिट्टिभो गच्छति हंसलीलया,
न वायसः कूजति कोकिलारवम् ।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालय-
स्तथापि नीचः प्रकृतिं न मुञ्चति ॥२६२॥
वैद्येन विद्विषः सर्वे वस्त्राभरणदानतः ।
सन्मानीता मिथः प्रोचुरयं स्वामी वरोऽस्ति नः ॥२६३॥
एवमाराध्य तं वैद्यमुपदादानतस्तदा ।
धृताज्ञा विद्विषस्तस्य स्वं स्वं स्थानं ययुः पुनः ॥२६४॥
पराक्रमं तदा तस्य वैद्यस्य मेदिनीपतिः ।
विज्ञाय संशये चारुवंशजे पतितस्तदा ॥२६५॥ यतः—
आचारः कुलमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ।
संभ्रमः स्नेहमाख्याति देशमाख्याति भाषितम् ॥२६६॥
वार्द्धेस्तटेऽन्यदा वैद्यभूपः क्रीडन्नरं किल ।
ददर्श पतितं काष्ठविलग्नं व्याकुलाशयम् ॥२६७॥

१ हीनजात्यधमाचाराज्ञातवंशादिकारणैः ग । २ संशये पतितो नीचकर्मणश्च विलोकनात् ग । ३ क्रीडापरो नरम् ग । ४ चेतनाकुलम् ग ।

उत्पन्नकरुणोऽह्वाय भूपतिर्भृत्यपार्श्वतः ।
आनिनाय द्रुतं सौवं स्थानकं तं नरं तदा ॥२६८॥
उपचारैर्नृपो वैद्यस्तैलमर्दनपूर्वकम् ।
सचेतनं नरं सद्यः कारयामास सेवकैः ॥२६९॥ यतः-
"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥२७०॥
विपदि परेषां सन्तः समधिकतरमेव दधति सौजन्यम् ।
ग्रीष्मे भवन्ति तरवो घनकोमलपल्लवच्छन्नाः ॥२७१॥
नालिकेरसमाकारा दृश्यन्ते केपि सज्जनाः ।
अन्ये तु बदराकारा बहिरेव मनोरमाः" ॥२७२॥
वैद्योऽऽप्राक्षीत्कुतः स्थानात्किमर्थं कुत्र जग्मिवान् ।
इत्युक्ते च नरः प्राहावन्तीनामपुरात्किल ॥२७३॥
वीरश्रेष्ठिसुतो भीमाऽभिधोऽहं पितरं निजम् ।
मानयित्वाऽब्धिमार्गेण निरसार्षं रमाकृते ॥२७४॥
भग्नयानोऽम्बुधौ लब्धफलको दैवयोगतः ।
कल्लोलनिचयैः कूलमहं प्रापं च कष्टतः ॥२७५॥ यतः-
"ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तः सदा संकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे" ॥२७६॥
वैद्यः प्राह महाभाग ! दुःखं कार्यं त्वया नहि ।
तिष्ठ त्वमत्र मत्पार्श्वे सुखं कालं नयाधुना ॥२७७॥
यियासुरविलम्बेनावन्तीपुर्यामहं द्रुतम् ।
त्वमेव च मया सार्धमागच्छेस्तत्र गच्छता ॥२७८॥ यतः-
सज्जनस्य हृदयं नवनीतं गीतमत्र कविभिर्न तथा यत् ।
अन्यदेहविलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्" ॥
ततो बान्धववन्नित्यं वैद्यभूपः सुभक्तितः ।
सदन्नपानवस्त्राद्यैः पोषयामास तं भृशम् ॥२८०॥ यतः-

"उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सुजनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः" ॥२८१॥
वैद्यः पप्रच्छ भो भीमावन्त्यां कोऽस्ति नरेश्वरः ।
भीमोऽवग् विक्रमादित्यः पपाल पृथिवीं नयात् ॥२८२॥
तत्र कोऽपि समागत्य तस्करो मेदिनीपतेः ।
भूषणानि गृहीत्वाऽगात् चटितस्तस्करो न हि ॥२८३॥
अत्रान्तरे ततः पुर्या लात्वा वस्तूनि भूरिशः ।
लक्ष्म्यर्थं वाहनेनाहं चलितोऽम्भोधिवर्त्मना ॥२८४॥
वैद्यभूपो जगौ तत्र विक्रमार्कप्रजापतेः ।
सुतोऽहं निर्गतस्तस्मादवन्तीनगरात्पुरा ॥२८५॥
दैवयोगादिहेदानीमागमं भूतले भ्रमन् ।
भूपतेस्तनयामस्य पर्यणैषमहं पुनः ॥२८६॥
स्वोपार्जितश्रिया यानपात्राणि पञ्चविंशतिम् ।
भृत्वा क्रयाणकैर्नानाप्रकारैर्बहुमूल्यकैः ॥२८७॥
पुरीं चिचलिषुः सौवां प्रति वैद्यपतिः प्रियाम् ।
प्रेषयामास भूपान्ते मुत्कलापयितु तदा ॥२८८॥[युग्मम्]
वैद्यभूपप्रिया भूपपार्श्वे गत्वा जगावदः ।
तातावन्तीपुरस्वामिविक्रमादित्यनन्दनः ॥२८९॥
चलिष्यति पतिर्मेऽद्य पित्रोश्च मिलनोत्सुकः ।
तेनाहं त्वधुना मुत्कलापयितुं समागमम् ॥२९०॥ [युग्मम्]
जामातुर्ज्ञातपित्रादिसम्बन्धो ध्यातवान्नृपः ।
चक्रे मया भृशं तस्य मुग्धबुद्ध्याऽवहेलनम् ॥२९१॥
ममाऽपि नरकं मुक्त्वा विद्यते स्थानकं न हि ।
ईदृक्सुजनधिक्कारकरणान्निश्चितं भृशम् ॥२९२॥
रिपुराज्यार्पणाच्चक्रेऽवज्ञा तस्य मया खलु ।
जामात्रा कर्हिचिन्नैव विकारो दर्शितो मनाग् ॥२९३॥ यतः-
"सत्पक्षा ऋजवः शुद्धाः सफलाः गुणसेविनः ।
तुल्यैरपि गुणैश्चित्रं सन्तः मन्तः शराः शराः ॥२९४॥

ततो जामातरं भूपः समानीय निजालये ।
प्रोवाचेह मया चक्रेऽपराधस्तव भूरिशः ॥२९५॥
क्षन्तव्यं भवता सम्यग् मेऽधमस्योपरि स्फुटम् ।
राज्यमङ्गीकुरुष्वेदं जामातः ! साम्प्रतं मम ॥२९६॥
वैद्यभूपो जगौ कार्यं न मे राज्येन तेऽधुना ।
मिलनेच्छा भृशं मातापित्रोरेव महीपते ! ॥२९७॥ यतः-
"पुनाति त्रायते चैव कुलं स्वं योऽत्र शोकतः ।
एतत्पुत्रस्य पुत्रत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥२९८॥
तीर्थेभ्यः स्नानदानाद्यैः पुण्यमेव हि लभ्यते ।
पितृभ्यस्तु निरायासं त्रिवर्गस्य तु सम्भवः ॥२९९॥
असार्थप्रार्थनं तीर्थमदेहद्रोहणं तपः ।
अनम्भःसम्भवं स्नानं मातुश्चरणचर्चनम् ॥३००॥
जीयाल्लोकोत्तरः कोऽपि जननीस्नेहपादपः ।
निर्बीजमूलवृक्षोऽपि यः सदैव फलेग्रहिः ॥३०१॥

ततो भूपतिना वैद्यभूपाय प्रददे तदा ।
मुक्ताफलमणिस्वर्णतुरङ्गमव्रजो बहुः ॥३०२॥
श्वसुरादिपदाम्भोजं नत्वा वैद्यनृपस्तदा ।
चचालाम्बुधिमार्गेण प्रियायुक्तः प्रमोदितः ॥३०३॥
कनकश्रीवपूरूपं दृष्ट्वा भीमोऽन्यदा मुदा ।
मोहितस्तां छलाद्धर्तुमभूच्चिन्तातुरो भृशम् ॥३०४॥ यतः-
विषयगणः कापुरुषं करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम् ।
बध्नाति मशकमेव हि लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥३०५॥
"अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाणं बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥३०६॥
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः० [सर्ग०५. श्लो.३१२] ॥३०७॥
यानप्रान्ते स्थितोऽन्येद्युर्भीमः प्राहेति कैतवात् ।
भो वैद्यभूपते ! पश्य कौतुकं वारिधावितः ॥३०८॥
चतुर्मुखो व्रजत्येष मत्स्यः स्निग्धतनुच्छविः ।

इतश्चाष्टाननो याति मकरोऽरुणदीप्तिमान् ॥३०९॥
श्रुत्वैतदुद्यतो यावद् वैद्यभूपोऽजनि द्रुतम् ।
तावद् भीमेन दुष्टेन बलात्क्षिप्तः पयोनिधौ ॥३१०॥
मकरेणाम्बुधौ वैद्यो भूपतिर्गलितः पतन् ।
कल्लोलप्रेरितः सोऽपि वार्धिकूलमुपागमत् ॥३११॥
निश्चुकोषुर्बहिर्बार्द्धेर्मकरं मैनिकास्तदा ।
छिन्ने तस्योदरे चैको निस्ससार नरोऽनघः ॥३१२॥ यतः—
"वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि" ॥
दध्यौ वैद्यो विधिर्नूनं बलवान् विद्यते भृशम् ।
आदौ लात्वेक्षणी(त्वाऽक्षिणी) दत्ते भूयः सच्चूर्णयोगतः ॥
ततो राजसुता दत्ता विधिना कमला पुनः ।
पतितो वारिधौ भूयः कर्षितो वारिधेः पुनः ॥३१५॥

वैद्यः पुनर्निजं भाग्यं द्रष्टुं ग्रामादिषु व्रजन् ।
एत्यावन्तीपुरीपार्श्वे ध्यातवानिति मानसे ॥३१६॥
मिलिष्यामि कथं मातापित्रोरेवंविधोऽधुना ।
यतो न शोभते लक्ष्मीं विना कुत्र पुमान् मनाग् ॥३१७॥यतः
"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च माननीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" ॥३१८॥
वाहनानि मदीयानि यावन्नेष्यन्ति तावता ।
कस्यचित्सदने स्थित्वा कालं नेष्याम्यहं किल ॥३१९॥
ध्यात्वेति विक्रमादित्यसूनुश्चेतसि बुद्धिमान् ।
मालिकस्य गृहेऽभ्येत्य तस्थौ यानागमेच्छुकः ॥३२०॥
इतो भीमश्छलात्प्राह हा हा किमधुनाऽजनि ।
मत्स्वामिनोऽम्बुधौ पातोऽभवन्मत्स्यविलोकनात् ॥३२१॥

१ तावदत्र स्थित कालं नेष्यामि स्म स्वयं सुखम् ॥ ग । २ यानागमावधि घ ।

भो लोका ! धावताह्वाय प्रविशन्तु पयोनिधौ ।
कर्षयितुं द्रुतं वार्द्धेः स्वामिनं पतितं मम ॥३२२॥
अहं कथं भविष्यामि साम्प्रतं स्वामिनं विना ।
इत्यादि स भृशं रोदंरोदमन्यानरोदयत् ॥३२३॥ यतः—
"लोभमूलानि पापानि रसमूलाश्च व्याधयः ।
स्नेहमूलानि दुःखानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेद् ॥३२४॥
लोभेन कुरुते मायां तथा जीवो विमूढधीः ।
यथा न तत्र जानीते ब्रह्माऽपि स्वधिया पुनः ॥३२५॥
"नयणिहिं रोइ मणि हसइ जण जाणइ सव सच्च ।
वेसा दुज्जण तं करइ जं कट्ठह करवत्तु ॥३२६॥
एगे कुणंति छिद्दं जाइविसुद्धेऽपि निम्मले रयणे ।
अन्ने महाणुभावा गुणेहिं तं चेव पूरन्ति ॥३२७॥
अनुहरतः खलसुजनावग्रिमपाश्चात्यभागयोः सूच्याः ।
एकः कुरुते छिद्रं गुणवानन्यस्तु पिदधाति" ॥३२८॥

श्रुत्वाऽब्धौ पतितं कान्तं कनकश्रीः प्रियाऽपि च ।
रोदंरोदं जनान् सर्वान् रोदयामास तत्क्षणम् ॥३२९॥
लोकाः प्रोचुः कथं भीम ! रोदिषि त्वं पुनः पुनः ।
स्वकर्मतो यतः केऽपि छुट्यन्ते न सुरा अपि ॥३३०॥ यतः—
"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥३३१॥
संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्" ॥३३२॥
एवं मायां क्षणं कृत्वा भीमोऽवग् मानवान् प्रति ।
चाल्यतां वाहनं सद्यो गम्यते आत्मनः पुरे ॥३३३॥
द्रव्यार्पणाज्जनान् सर्वान् सन्मान्य भीमनैगमः ।
गत्वा रहः कनकश्रीपार्श्वे प्राहेति दुष्टधीः ॥३३४॥
दुःखं मनाक् त्वया कार्यं नो हि भामिनि ! मानसे ।
अहं च पूरयिष्यामि वाञ्छितं तव संततम् ॥३३५॥

श्रुत्वैतन्मूर्छिता शीतोपचाराच्च सचेतना ।
स्वर्णश्रीः प्राह यद्येवं वक्ष्यसि त्वं मनाग् मम ॥३३६॥
तदा मया विधातव्यः प्राणत्यागोऽचिराद् ध्रुवम् ।
अस्मिन् भवे स एवास्तु पतिर्वा ज्वलनो मम ॥३३७॥
करिष्यसि बलाच्चेत्त्वं तदाऽनर्थस्तवागतः ।
नो चेत्सर्वा भविष्यन्ति यानपात्रश्रियश्च ते ॥३३८॥
भीमो दध्यौ पुरे स्वीये निरीक्ष्य मद्गृहं वरम् ।
कनकश्रीरियं सर्वं मदुक्तं मानयिष्यति ॥३३९॥
विचिन्त्येति जगौ भीमो [1]भवत्योक्तं भविष्यति ।
ततः क्रमात्तटं प्राप्य वस्तु सर्वमतीतरत् ॥३४०॥
भीमः क्रयाणकं सर्वं शकटैर्भूरिभिः क्रमात् ।
अवन्त्यां स्वगृहे सद्य आनयामास रङ्गतः ॥३४१॥
एकस्मिन् पृथगावासे वनितां कनकश्रियम् ।
प्रियां [2]कर्तुमना भीमः स्थापयामास हर्षितः ॥३४२॥

आनीतां कमलां [3]बद्धीं कन्यामेकां च सूनुना ।
निरीक्ष्य मुमुदे भीमजनकोऽर्कमित्राम्बुजम् ॥३४३॥
कमलामोहितोऽत्यन्तमुपायं कन्यकां च ताम् ।
वरीतुं तनुते भीमः कृत्याकृत्यविवर्जितः ॥३४४॥ यतः—
"न पश्यति हि जात्यन्धः कामान्धो नैव पश्यति ।
न पश्यति मदोन्मत्तः स्वार्थी दोषं न पश्यति ॥३४५॥
विकलयति कलाकुशलं हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति ।
अधरयति धीरपुरुषं क्षणेन मकरध्वजो देवः" ॥३४६॥
इतः शुभमतीरूपवत्यौ भूमिपतेः स्नुषे ।
विज्ञाय रमणं दूरगतं दुःखेन पूरिते ॥३४७॥
याचेते मेदिनीनाथं सततं काष्ठभक्षणम् ।
राजा जगौ कियत्कालं प्रतीक्षेथां स्नुषेऽनघे ॥३४८॥
कदाचित् तस्य पुत्रस्य ममैव सुकृतोदयात् ।
आगमो वा श्रुतिः सम्यग् ज्ञायते कस्यचिन्मुखात् ॥३४९॥

१ भूयादेवं वचस्तव **क** । २ कनकश्रीमृगेक्षणाम् **ग** । ३ बन्दीं **घ** ।

एवं पुनः पुनः प्रोक्त्वा भूभुजा स्थापिते स्नुषे ।
विनयेन महीपालं याचेते काष्ठभक्षणम् ॥३५०॥
इतो भ्रान्त्वा भुवं सोमदन्तोऽभ्येत्य पुरीं निजाम् ।
श्रीविक्रमचरित्रस्य स्वरूपमुक्तवांस्तदा ॥३५१॥
पुत्रस्वरूपमाकर्ण्य विक्रमार्कोऽतिदुःखितः ।
ततो दूरागतान् लोकान् सूनोः शुद्धिं च पृच्छति ॥३५२॥
यदा महीपतिः सूनोः शुद्धिं सम्यग् न वेत्ति च ।
तदा दध्यौ ममेदानीं किमु प्राणाः सुतं विना ॥३५३॥
ततो मन्त्रीश्वरैः सार्धं विचार्यावनिनायकः ।
एकमाकार्य दैवज्ञं पप्रच्छ तनयागमम् ॥३५४॥
नैमित्तिको जगौ राजन् ! लग्नं वक्तीति साम्प्रतम् ।
अद्य कल्ये परेद्युर्वा सज्जनेत्रः समेष्यति ॥३५५॥
आगतोऽस्त्यथवा पूर्वमस्यां पुर्यां तवाङ्गजः ।
तेन दुःखं न कर्तव्यं भवता साम्प्रतम् मनाक् ॥३५६॥

ततो हृष्टो महीपाल आकार्य सचिवान् द्रुतम् ।
वादयामास पटहं सर्वतो नगरे इति ॥३५७॥
यः कश्चिद् भूपपुत्रस्यागमनं कथयिष्यति ।
तस्य राज्यार्धमुर्वीशः प्रदास्यति ध्रुवं द्रुतम् ॥३५८॥
एवं मध्येपुरं स्थाने स्थाने भूपतिसेवकैः ।
कार्यते पटहोद्घोषोऽभितो भूपनिदेशतः ॥३५९॥
इतो विक्रममार्त्तण्डपुत्रः पप्रच्छ मालिकाम् ।
काऽस्ति वार्ता पुरीमध्ये राजा किं कुरुतेऽधुना ॥३६०॥
मालिकाऽवग् महीशेन पुत्रशुद्धिकृतेऽधुना ।
वाद्यते पटहो मध्येनगरं निजसेवकैः ॥३६१॥
वीरश्रेष्ठिसुतो भीमः परेद्युर्दूरदेशतः ।
आनैषीत् स्वर्णरत्नादिवस्तूनि भूरिशोऽत्र च ॥३६२॥
एकां दिव्यतनुं नारीमानीयात्र मनोहराम् ।
स्वगृहोपान्तसदने स्थापयामास सम्प्रति ॥३६३॥

वैद्योऽवग् मालिके ! तस्याः पार्श्वे त्वं किं गमिष्यमि ।
मालिका प्राह सर्वत्रास्मादृशां विद्यते गतिः ॥३६४॥ यतः—
"वणिजां पुरनारीणां मालिकानां मनस्विनाम् ।
चरणां तस्कराणां च सर्वत्र विद्यते गतिः ॥३६५॥
[1]ततः श्लोकान् वरान् पुष्पचरणके रहो नरः ।
लिखित्वा प्रददौ तस्य मालिकायै मुदा तदा ॥३६६॥
स च प्राह स्त्रियास्तस्या देहि भो मालिके ! रहः ।
सा च यद्वक्ति तच्छ्रुत्वा समागम्यमिह त्वया ॥३६७॥
ततः सा मालिका तत्र गत्वा पुष्पचरणकम् ।
[2]यावत्तस्यै ददौ तावत् श्लोकान् वाचयतीति सा ॥३६८॥
चूर्णेन यो व्यधाद् वैद्यः पश्यन्तीं कनकश्रियम् ।
हेलया विद्विषोऽशेषान् वश्यकार्षीच्च यः पुनः ॥३६९॥
य आत्मीयं जगौ वृत्तं न पूर्व भूपतेः पुरः ।
प्रयाणावसरे पत्नीपार्श्वान्तसम्यगचीकथत् ॥३७०॥
दिव्यस्वर्णमणिरौप्यवसुभिः श्राग् भृतानि च ।
पूरयामास चाम्भोधौ यानानि पञ्चविंशतिम् ॥३७१॥
चलत्सु यानपात्रेषु यः पपात पयोनिधौ ।
स त्वदीयपतिर्दैवयोगादब्धेश्च निर्गतः ॥३७२॥
अस्यां पुरि गृहे धीरमालिकस्यास्ति सम्प्रति ।
स्थितः सन्नयते कालं सुखेनैव पतिस्तव ॥३७३॥
स्पृष्ट्वा पटहमह्वाय मामत्रस्थं प्रियेऽधुना ।
निवेदय महीशस्य पुरः पट्यन्तरस्थिता ॥३७४॥
[षड्भिः कुलकम्]

१ ततः पुमान जगौ श्लोकान्येतानि मालिके ! पुनः । दत्त्वा तस्याः स्त्रियः पश्चादागच्छ त्वरया रहः ॥ **ग** ।

२ चतुःश्लोकैश्च ग्रथितं रहस्तस्यै ददौ तदा ॥ सन्मान्य मालिकां पश्चात् संप्रेक्ष्य कनकश्रीया । पौष्पं चरणकं वर्यं वीक्ष्य प्रमुदितं तया ॥ लिखितान्यक्षराण्येक्ष्य चञ्चत्पुष्पचरणके । श्लोकानि वाचयामास स कनकश्री रहस्तदा ॥ तथाहि—इति **ग**पुस्तकेऽधिकः पाठः ॥

श्लोकज्ञातनिजस्वामिस्वरूपा कनकेन्दिरा ।
सन्मान्य मालिकां पश्चात्प्रेषयामास तत्क्षणात् ॥३७५॥
मालिकौकःस्थितं कान्तं विज्ञाय कनकेन्दिरा ।
पस्पर्श पटहं वाद्यमानं भूपतिसेवकैः ॥३७६॥

पटहस्पर्शमाकर्ण्य गत्वा भीमगृहे नृपः ।
पट्यन्तरस्थितां कन्यां पप्रच्छ कनकश्रियम् ॥३७७॥
कुत्र स्थाने सुतो मे स वत्से ! तिष्ठति सम्प्रति ।
स्वरूपं मूलतः पत्युः प्रवृत्ता कथितुं च सा ॥३७८॥

अवन्तीनिर्गमप्राप्तिपर्यन्तं स्वपतेस्तदा ।
वृत्तान्तं कथयामास कनकश्रीर्नृपाग्रतः ॥३७९॥

स्वरूपं स्वीयपुत्रस्य कनकश्रीमुखात् तदा ।
पट्यन्तरस्थितः श्रुत्वा दध्याविति महीपतिः ॥३८०॥
किमसौ विद्यते विद्याधरी देवाङ्गनाऽथवा ।
साक्षाज्ज्ञानवती किंवा भारती वा समागता ॥३८१॥

ममोपरि कृपां कृत्वा काऽपि ज्ञानवती वशा ।
आगता कथितुं सूनोः स्वरूपं सुखहेतुकम् ॥३८२॥
विक्रमादित्यभूपालो ज्ञातपुत्रस्थितिस्तदा ।
उत्थाय मालिकावासद्वारदेशमगात्तदा ॥३८३॥

श्रीविक्रमचरित्रोऽथ दृष्ट्वा तातं समागतम् ।
आगत्य सम्मुखं भक्त्याऽनमत् पादाम्बुजं पितुः ॥३८४॥ यतः–
"ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥३८५॥
उपाध्यायाद् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥३८६॥

आस्तन्यपानाज्जननी पशूनामादारलम्भावधि चाधमानाम् ।
आगेहकर्मावधि मध्यमानामाजीवितात्तीर्थमिवोत्तमानाम्" ॥
ततः श्रीविक्रमादित्यभूपतिश्चक्रदुत्सवम् ।
अनैषीद् नन्दनं सौवमन्दिरं मुदिताशयः ॥३८८॥

आदौ मातृपदाम्भोजं ननामानघमानसः ।
हर्षश्च श्रीमतीरूपवत्योः कान्तेक्षणादभूत् ॥३८९॥ यतः—
"रविं रथाङ्गाः शशिनं चकोरा मेघं मयूरा विजयं च शूराः ।
सती पतिं वारिधिरिन्दुमम्बा पुत्रं निरीक्ष्येह मुदं वितेनुः" ॥
भूपः प्राहाङ्गजेदानीं राज्यार्धं दास्यते कथम् ।
तस्याः स्त्रियो यया प्रोक्ता स्थितिस्ते मत्पुरः स्फुटम् ॥३९१॥
पुत्रो जगौ ततः सर्वं स्वरूपमात्मनः पितुः ।
सुतवाक्यं निशम्यैतद् भूपः प्राहाङ्गजं प्रति ॥३९२॥
मारयित्वा द्रुतं भीमं सर्वामस्य श्रियं पुनः ।
ग्रहीष्यामि यतो दुष्टः पापिष्ठोऽयं च निर्दयः ॥३९३॥ यतः—
"शठदमनमशठपालनमाश्रितभरणं च राजचिह्नानि ।
अभिषेक पट्टबन्धो वालव्यजनं व्रणस्यापि ॥३९४॥
भीमस्य सदने मुद्रां दापयित्वा महीपतिः ।
बद्ध्वा च रज्जुभिस्तं श्राक् कशाघातैरताडयत् ॥३९५॥ यतः—

"दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥३९६॥
चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलम् ।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥३९७॥
ये द्रोहं कुर्वतेऽन्येषां विश्वास्यैव तनूमताम् ।
लभन्ते ते महादुःखमिहामुत्र निरन्तरम् ॥३९८॥
प्राणसंदेहजननं परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥३९९॥
सर्वस्वहरणं बन्धं शरीरावयवच्छिदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं, लभते पारदारिकः ॥४००॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽवक् तातामुं मुञ्च मा तुद ।
अनेन श्रीप्रिये अत्र समानीते सुखं मम ॥४०१॥
उक्त्वेति विक्रमादित्यसुतो भीमं च बन्धनात् ।
छोटयामास सन्मानं कारयामास भूभुजा ॥४०२॥

१ श्रुत्वा भूमिपती रक्तेक्षणः प्राह सुतं प्रति ग ।

आनिनाय स्नुषां सर्ववाहनानां क्रयाणकम् ।
निजावासं महीपालश्चारूत्सवपुरस्सरम् ॥४०३॥
सूनोर्ऋद्धिं चरित्रं वा पूर्वं वीक्ष्य महीपतिः ।
पुरीमध्येऽभितो गीतनृत्योत्सवमचीकरत् ॥४०४॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽथ पत्नीत्रययुतस्तदा ।
ज्ञानदर्शनचारित्रश्रीयुग् साधुरिवाशुभत् ॥४०५॥
सोमदन्तं तदा तत्राकार्य श्रीविक्रमाङ्गजः ।
पितुः पार्श्वात् श्रियं बह्वीं दापयामास रङ्गतः ॥४०६॥
न मनाग् सोमदन्ते तु श्रीविक्रमार्कनन्दनः ।
द्वेषं चक्रे यतः सन्ति उत्तमाः परवत्सलाः ॥४०७॥ यतः—
["उत्तम अतिहिं पराभविउ न धरइ हिअडइ डंस ।
छेदिउ भेदिउ वींधीउ मधुरउ वाजइ वंस]

ततो विक्रममार्त्तण्डो गुणवत्पुत्रसंयुतः ।
पृथिवीं पालयामास न्यायमार्गेण नित्यशः ॥४०८॥
तलिकातोरणप्रौढगीतनृत्यार्चनादिभिः ।
प्रभावनां महीपालः कारयामास रङ्गतः ॥४०९॥
उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी–
दैवं च दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥४१०॥
श्रीविक्रमचरित्रोऽथ पूर्ववत्सुहृदं पुनः ।
सोमदन्तं तदा सद्यो मानयामास रङ्गतः ॥४११॥
स्वोपार्जितश्रियं पुण्यस्थानकेषु निरन्तरम् ।
श्रीविक्रमादित्यभूपालः सफलीकुरुते स्म सः ॥४१२॥

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिपट्टालंकरण—परमगुरुश्रीमुनिसुन्दरसूरि—शिष्यपण्डितश्रीशुभशीलगणिविरचिते श्रीविक्रमादित्यचरित्रे श्रीविक्रमचरित्रकनकश्रीपाणिग्रहणस्वरूपवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥

सप्तमः सर्गः ।

अथावधूतवेषेण भ्रमन् देशेषु भूरिषु ।
द्वादशवर्षपर्यन्ते सिद्धसेनदिवाकरः ॥१॥
मिथ्यात्वग्रसितं भूपं विक्रमार्कं कुयोगतः ।
आकर्ण्य तत्प्रबोधाय ययौ मालवनिवृति ॥२॥ [युग्मम्]
अवधूतस्य वेषेण सिद्धसेनो गुरूत्तमः ।
उज्जयिन्यां समायातः प्रबोधाय महीपतेः ॥३॥
गत्वेश्वरगृहे लिङ्गाभिमुखौ चरणौ निजौ ।
कृत्वा सूरीश्वरः सुप्तः प्रबोधाय नरेशितुः ॥४॥
दृष्ट्वा तथास्थितं तं च प्राहेति देवपूजकः ।
उत्तिष्ठ भो पुमन् ! नैवं सुप्यते देवसम्मुखम् ॥५॥
एवं पुनः पुनः प्रोक्ते यावन्नोत्तिष्ठति स्म सः ।
तावद् भूमिपतेः पार्श्वे गत्वा देवार्चको जगौ ॥६॥

स्वामिन्नद्य पुमानेकोऽवधूतवेषधारकः ।
लिङ्गस्याभिमुखं पादौ कृत्वा सुप्तोऽस्ति निर्घृणः ॥७॥
राजाऽवग् वचनेनैवं समुत्तिष्ठति नो यदि ।
कम्बाभिश्च तदाहत्य कर्त्तव्यो दूरतस्त्वया ॥८॥
अवधूतं यथा हन्ति कम्बाभिर्भूपसेवकः ।
अन्तःपुरं तदा बाढं कम्बाभिस्ताड्यतेऽभितः ॥९॥
शुद्धान्तस्य तदा पीडां ज्ञात्वा भूमिपतिर्भृशम् ।
महं(हा)कालालयेऽभ्येत्यावधूतं तं जगाविति ॥१०॥
अवधूत ! स्तुहि त्वं च महेशं शिवशर्मदम् ।
देवो हि स्तूयते स्तोत्रैरवज्ञा क्रियते न हि ॥११॥
सूरिणोक्तं महीपाल ! महादेवः स्तुतिं मम ।
सहते न मनाग् भूपः प्राह देवः सहिष्यति ॥१२॥

---

१ स्वीयविद्याबलोद्धतः ।

सूरिः प्राह मम स्तुत्या विघ्नमस्य सुधाभुजः ।
भविष्यति तदा दोषो देयो न भवता मनाग् ॥१३॥
स्तुहीति भूभुजा प्रोक्त सूरिणोऽथाय तत्क्षणात् ।
स्तुतो जिनो वीरो द्वात्रिंशता द्वात्रिंशिकादिभिः ॥१४॥
प्रादुर्भवति नो देवो महावीरो जिनेश्वरः ।
तेन श्रीपार्श्वनाथस्य ममारब्धा स्तुतिस्तदा ॥१५॥
कल्याणमन्दिरस्तोत्रे 'क्रोधस्त्वये'ति गर्भितम् ।
काव्यं यावद् व्यधात् सूरिस्तावल्लिङ्गभिदाऽभवत् ॥१६॥
केचिदाचार्या वदन्ति ।
स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमिथ्यान्तमपुण्यपापम् ॥१७
इत्यादि प्रथमे काव्ये स्तोत्रस्य जल्पिते सति ।
लिङ्गं भित्त्वा जिनः पार्श्वो निर्जगामामरस्तुतः ॥१८॥
बिम्बं श्रीपार्श्वनाथस्य निर्गतं वीक्ष्य सूरिराट् ।
प्राहायं सहते देवो मदीयां स्तुतिमद्भुताम् ॥१९॥
राज्ञोक्तं भगवन् ! कस्त्वं कोऽसौ देवो विनिर्गतः ।
अवधूतो जगौ सूरिमुख्यस्य वृद्धवादिनः ॥२०॥
सिद्धसेनाभिधः शिष्यः कारणान्निर्गतो बहिः ।
आगतोऽस्मिन् पुरे पृथ्व्यां भ्रमन् देशेषु भूरिशः ॥[युग्मम्]
भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारि वारितः ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः किंवाऽऽगच्छतु गच्छतु ॥२२॥
इत्यादिविशदश्लोकचतुष्टयविधानतः ।
पूर्वं मया भवानत्र वर्णितो मेदिनीपते ! ॥२३॥
धरणेन्द्रादिगीर्वाणनाथसंततिसेवितम् ।
बिम्बं श्रीपार्श्वनाथस्य निर्गतं वसुधातलात् ॥२४॥
श्रुत्वैतद् विक्रमादित्यः प्राह चित्ते चमत्कृतः ।
कथमस्मिन्मरुद्गेहे निर्ययौ पार्श्वसर्ववित् ॥२५॥
ततो भूपप्रबोधाय सिद्धसेनदिवाकरः ।

१ किं चेदं दृश्यतेऽद्भुतम् ग । २ चिरान् श्रीपार्श्वनाथोऽयं निर्गतो क ।

प्राह भूपास्य सम्बन्धं प्रासादस्य भृणु स्फुटम् ॥२६॥
पूर्वमस्यामवन्त्यां श्रीभद्रश्रेष्ठी धनी कृती ।
भद्राऽभूद् गेहिनी तस्य शीलादिगुणशालिनी ॥२७॥
रूपाञ्जितसुरोऽवन्तीसुकुमालाभिधः सुतः ।
द्वात्रिंशद्गृहिणीभोगः शालिभद्र इवाभवत् ॥२८॥
आर्यसुहस्तिसूरीशगण्यमानां वरध्वनि ।
शुश्राव नलिनीगुल्मविमानस्थितिमादरात् ॥२९॥
ऊहापोहं करन् भूयो जातजातिस्मृतिस्तदा ।
ज्ञात्वा पूर्वभवं स्वीयं गत्वा पार्श्वे गुरोर्जगौ ॥३०॥
यूयं किं नलिनीगुल्मविमानादागता इह ।
गुरुः प्रोवाच शास्त्रेण ज्ञायते तत्स्थितिर्मया ॥३१॥
भद्रापुत्रो जगौ स्थातुं न तत्सौख्यं विना क्षमः ।
तेन दीक्षां ममेदानीं यूयं ददत शीघ्रतः ॥३२॥
गुरुः प्रोवाच नो दातुं शक्यते तेऽधुना व्रतम् ।
आपृच्छ्य पितरौ दीक्षां गृहाण श्रेष्ठिनन्दन ! ॥३३॥

ततो गत्वा बहिर्दीक्षां ललौ भद्रासुतः स्वयम् ।
कायोत्सर्गे स्थितः स्वर्गध्यानं कुर्वंश्च योगिवत् ॥३४॥
तदा तत्रागता पूर्वभवपत्नी शिवा वने ।
तं दृष्ट्वा जातरुड् बाढमुपसर्गं व्यधात् तदा ॥३५॥
शुभध्यानेन मृत्वा स श्रेष्ठिपुत्रस्तदा निशि ।
बभूव नलिनीगुल्मविमाने निर्जरोऽनघः ॥३६॥
प्रातः पृष्ट्वा गुरुं बाह्योद्याने गत्वा च श्रेष्ठिराट् ।
मृतं दृष्ट्वा सुतं वह्निसंस्कारं चकृवांस्तदा ॥३७॥
श्रेष्ठ्यपि नलिनीगुल्मविमाने गमनं प्रगे ।
सूनोः श्रुत्वा गुरोः पार्श्वे तत्याज शोकमात्मनः ॥३८॥
तस्मिन् स्थाने महच्चैत्यं पार्श्वनाथजिनेशितुः ।
मनोज्ञं कारयामास भद्रश्रेष्ठी धनव्ययात् ॥३९॥
तस्याऽजनि महं(हा)कालनामेति विश्रुतं भुवि ।
कालक्रमाद् द्विजैर्लिङ्गं स्थापितं पार्वतीपतेः ॥४०॥
नीरागोऽसौ जिनो देवो ददते पदमव्ययम् ।

सुरासुरनराधीशपदवीमपि सुन्दराम् ॥४१॥ यतः—
"सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥४२॥
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम्।
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं चेतनाऽस्ति चेत् ॥४३॥
ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यङ्ककलङ्किताः।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥४४॥
नाट्याट्टहाससंगीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः।
लम्भयेयुः पदं शान्तं प्रपन्नान् प्राणिनः कथम् ? ॥४५॥
महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥४६॥
सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥४७॥
परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ?।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्त्तुमीश्वरः ॥४८॥
कोदण्डदण्डचक्रासिशूलशक्तिधराः सुराः।
हिंसका अपि हा कष्टं पूज्यन्ते देवताधिया ॥४९॥
न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम,
नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म।
यत्रान्यदेव च न किंचिदुपास्महे तद्,
रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ॥५०॥
स एव योगिनां सेव्यो ह्यर्वाचिनस्तु भोगभाक्।
स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते" ॥५१॥
इति मीमांसायाम् ॥ उक्तं च—
"वीतरागं स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते।
सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्वं तु निश्चितम् ॥५२॥
येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥५३॥
इत्यादि धर्ममाकर्ण्य सिद्धसेनगुरूदितम्।
जिनधर्माश्रितस्वान्तस्त्यक्त्वा मिथ्यात्वमञ्जसा ॥५४॥

महंकालाभिधे चैत्ये बिम्बं पार्श्वजिनेशितुः।
भूपतिः स्थापयामास पूजयामास चादरात् ॥५५॥
देवपूजाकृते ग्रामसहस्रं नृपतिर्ददौ।
सम्यक्त्वं च ललौ श्राद्धद्वादशव्रतसंयुतम् ॥५६॥

सिद्धसेनोऽन्यदा प्राह राजन् चारुफलं श्रियः।
दानमेव जिनैः प्रोक्तं श्रेयःसौख्यं यतो भवेत् ॥५७॥ यतः–
"दाणेण फुरइ कित्ती दाणेण य होइ निम्मला कित्ती।
दाणावज्जिअहिअओ वइरी वि हु पाणिअं वहइ ॥५८॥
धणसत्थवाहजम्मे जं घयदाणं कयं सुसाहूणं।
तक्कारणमुसभो जिणो तेलुक्कपिआमहो जाओ ॥५९॥

करुणाइ दिन्नदाणं जम्मंतरगहिअपुण्णकिरिआणं।
तित्थयरचक्किरिद्धिं संपत्तो संतिनाहो वि ॥६०॥
पश्चाद् दत्तं परैर्दत्तं लभ्यते वा न लभ्यते।
स्वहस्तेन च यद्दत्तं लभ्यते तन्न संशयः ॥६१॥

मा मंस्थाः क्षीयते वित्तं दीयमानं कदाचन।
कूपारामगवादीनां ददतामेव संपदः ॥६२॥
पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीतिविवर्धनं रिपुजने वैरापहारक्षमम्।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानपूजाप्रदं,
भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो निष्फलम् ॥६३॥
वर्षं यावज्जिनाः सर्वे यथेष्टं दानमन्वहम्।
ददते स्वर्णरूप्यादि याचकेभ्यो मुखोदितम् ॥६४॥
अनृणां पृथिवीं सर्वां कृत्वा च श्रीजिनेश्वराः।
दीक्षां लात्वा ततः क्षीणकर्माणो यान्ति निर्वृतिम् ॥६५॥ यतः–

एगा हिरण्णकोडी अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा।
सूरोदयमाईअं दिज्जइ जा पायरासाओ ॥६६॥
सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु।
दारेसु पुरवराणं रत्थामुहमज्झयारेसु ॥६७॥

वरवरिआ घोसिज्जइ किमिच्छअं दिज्जए बहुविहीअं।
सुरअसुरदेवदाणवनरिंदमहिआण निक्खमणे ॥६८॥
समग्रवर्षदानं यथा—
तिन्नेव य कोडिसया अट्ठासिइं च हुंति कोडीओ।
असिइं च सयसहस्सा एअं संवच्छरे दिन्नं ॥६९॥
उत्पादिता स्वयमियं यदि तत्तनूजा,
तातेन वा यदि तदा भगिनी खलु श्रीः।
यद्यन्यसंगमवती च तदा परस्त्री—
स्तत्त्यागबद्धमनसः सुधियस्ततोऽमी ॥७०॥
दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम्।
कुर्वन् भव्यजनः श्रेयःसौख्यानि लभतेऽचिरात् ॥७१॥
शंखभूपप्रियारूपवत्याद्या इव मानवाः।
दानं चतुर्विधं शश्वद् ददाना यान्ति निर्वृतिम् ॥७२॥तथाहि—
शंखपुरे नृपः शंखो भूरिसैन्यो विचक्षणः।
न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयामास संततम् ॥७३॥ यतः—

"दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य सदैव वृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्रचिन्ता पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्॥
यस्तेजस्वी यशस्वी शरणगतजनत्राणकर्मप्रवीणः,
शास्ता शश्वत् खलानां क्षतरिपुनिवहः पालकश्च प्रजानाम्।
दाता भोक्ता विवेकी नयपथपथिकः सुप्रतिज्ञः कृतज्ञः,
प्राज्यं राजा स राज्यं प्रथयति पृथिवीमण्डलेऽखण्डिताज्ञः"॥
[धर्मशीलः सदा न्यायी पात्रे त्यागी गुणादरः।
प्रजानुरागसंपन्नश्चिरं नन्दति राट् क्षितौ ॥]
लसच्छीलगुणा रूपवत्याद्या रूपसुन्दराः।
सधर्मिण्योऽभवन् सप्त भूपतेः प्राणवल्लभाः ॥७६॥ यतः—
"पत्नी प्रेमवती सुतः सविनयो भ्राता गुणालंकृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुयतिप्रायोपभोग्यं धनम्,
पुण्यानामुदयेन सन्ततमिदं कस्यापि संपद्यते" ॥७७॥

चोरोऽन्यदा महीशस्य कोशात्पेटीं मणीभृताम् ।
आदाय यावता पुर्या निःसमार बहिर्निशि ॥७८॥
तावता धावितैः पृष्टौ भृत्यैश्चौरो धृतो दृढम् ।
आनीतो भूपतेः पार्श्वे ताडितो निर्दयं च तैः ॥७९॥
नीयमानो नृपादेशाद् वधार्थं सेवकैस्तदा ।
रूपवत्या वदन् दैन्यं मार्गे पृष्टश्च तस्करः ॥८०॥
अवस्थापतितं चौरं जल्पन्तं दीननिस्वनम् ।
भूमिभुग्गृहिणी रूपवती जातेति दुःखिता ॥८१॥ यतः–
[यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु ।
तस्य ज्ञानं च मोक्षश्च किं जटाभस्मचीवरैः ॥]
चेतः सान्द्रतरं वचः सुमधुरं दृष्टिः प्रसन्नोज्ज्वला,
शक्तिः क्षान्तियुता मतिः श्रितनया श्रीर्दीनदैन्यापहा ।
रूपं शीलयुतं श्रुतं गतमदं स्वामित्वमुत्सेकता–
निर्मुक्तं प्रकटान्यहो नवसुधाकुण्डान्यमून्युत्तमे ॥८२॥

गत्वा रूपवती भूपोपान्तं प्राहेति सद्दयम् ।
राजन्नयं ममैकाहस्तस्करो हि समर्प्यताम् ॥८३॥
येनास्य क्रियते किञ्चिदुपकारोऽन्नपानतः ।
श्रावयामि पुनर्द्धर्मं किञ्चिच्छिवसुखप्रदम् ॥८४॥ यतः–
[तक्रादिव नवनीतं पङ्कादिव कमलममृतमिव जलधेः ।
मुक्तामणिरिव वंशाद् धर्मः सारं मनुष्यभवात् ॥]
वरपूजया जिनानां धर्मश्रवणेन सुगुरुसेवनया ।
शासनं भासनयोगैः मृजन्ति सफलं निजं जन्म ॥८५॥
हन्यमानं तदा चौरं मेदिनीनायकप्रिया ।
आनिनाय मुदा रूपवती निजनिकेतनम् ॥८६॥
कारयित्वा ततः स्नानं तस्करः करुणास्पदम् ।
वरान्नपानतो रूपवत्या सन्मानितो भृशम् ॥८७॥ यतः–
"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां च वसुधैव कुटुम्बकम्" ॥८८॥

---

१ ततो भूपेन दाक्षिण्यात् पत्न्यै स्तेनः समर्पितः ॥

एवं पृथक् पृथक् षड्भिः पत्नीभिर्भोजनादिना ।
एकैकं दिवसं स्तेनोऽन्यन्तं गौरवितस्तदा ॥८९॥
एवं स्नानान्नपानेन स्तेनो गौरवितोऽपि सन् ।
अभूत्कृशवपुर्मृत्युभीतेर्बाढं दिने दिने ॥९०॥
दृष्ट्वा रूपवती चौरं दुर्बलं कृपया जगौ ।
अस्माभी रक्षितः सप्त दिनानि त्वं मलिम्लुच ! ॥९१॥
दुर्बलोऽभूः कथं बाढं ततः स्तेनो जगाविदः ।
मृत्युभयेन मे देहो जायते दुर्बलो भृशम् ॥९२॥ यतः–
"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताकाङ्क्षा समं मृत्युभयं द्वयोः ॥९३॥
[दुर्योनिमपि स प्राप्तः प्राणी मर्तुं न वाञ्छति ।
तस्मात् समस्तदानेभ्योऽभयदानं प्रशस्यते ॥]
अत एव पुराणेऽप्युक्तम्—
यो दद्यात्काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चैव वसुन्धराम् ।
एकस्य जीवितं दद्यान्न च तुल्यं युधिष्ठिर ! ॥९४॥
[हेमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि ।
दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः ॥]
ततो रूपवती प्राह सदयं तस्करं प्रति ।
अस्माभी रक्षितः सप्त दिनानि त्वं मलिम्लुच ! ॥९५॥
कल्ये को रक्षिता मृत्योर्भवन्तं तस्कराग्रणि ! ।
तेन स्तैन्यं द्रुतं मुञ्च सुखसंततिदायकम् ॥९६॥
चौर्यपापद्रुमस्येह वधबन्धादिकं फलं ।
जायते परलोके तु फलं नरकवेदना ॥९७॥
दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥९८॥
श्रुत्वैतत् तस्करः पापभीतचेता जगाविति ।
अद्यप्रभृति नो कार्यं मया स्तैन्यं मनागपि ॥९९॥
गत्वा राज्ञी नृपोपान्ते प्राह स्वामिन् ! मलिम्लुचः ।
गृहीतनियमः स्तैन्ये प्रसद्याद्य विमुच्यताम् ॥१००॥

ततो भूमिभुजा सद्यो देहमात्रोऽपि तस्करः।
मुक्तोऽजनि सुखी बाढं पीनतनुच्छविः खलु ॥१०१॥
गृहीत्वा नियमं देव्याः पार्श्वे स तस्करस्तदा।
तृतीयकं व्रतं सम्यक् पालयामास सन्ततम् ॥१०२॥
आराध्य च व्रतं सम्यक् तृतीयं तस्करस्तदा।
स्वर्गलोकेऽभवद्देवो लसद्देहच्छविर्वरः ॥१०३॥ यतः-
"राज्यं सुसंपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
देवत्वं जायते नृणां तृतीयव्रतपालनात् ॥१०४॥
अवधिज्ञानतः पूर्वं भवं देवः स्मरन् निजम्।
जज्ञावुपकृतिं राज्ञीकृतां चाभयदानतः ॥१०५॥
ततस्तासामहं कृत्वोपकारं भूपयोषिताम्।
अभूवमनृणी दिव्यरत्नदानात्कदा खलु ॥१०६॥
मत्वेति स्वर्गतोऽभ्येत्य राज्ञीः सर्वाः प्रणम्य च।
स्वरूपमात्मनः पूर्वभवीयमुक्तवान् सुरः ॥१०७॥
रूपवत्यै ददौ कोटिमूल्यं हारं च कुण्डले।
परासां नृपपत्नीनां द्वे द्वे च कुण्डले सुरः ॥१०८॥
भूपाय मुकुटं दिव्यं सिंहासनसमन्वितम्।
दत्त्वा नत्वा नृपं स्वर्गे जगाम निर्जरः क्षणात् ॥१०९॥ यतः-
"पञ्चसु जिणकल्लाणेसु महरिसितवाणुभावाओ।
जम्मंतरनेहेण य आगच्छन्ती सुरा इहयं ॥११०॥
संकंतदिव्वपेमा विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा।
अणहीणमणुअकज्जा नरभवमसुहं न इंति सुरा ॥१११॥
चत्तारि पञ्च जोयणसयाइं गंधो उ मणुअलोअस्स।
उड्ढं वच्चइ जेणं न हु देवा तेण आवन्ति" ॥११२॥
ततः शश्वद् ददद् दानं दीनादिभ्यो महीपतिः।
अमार्युद्धोषणां भूमौ कारयामास सर्वतः ॥११३॥
शृण्वन् धर्मं गुरूपान्ते चतुर्विधं प्रमोदतः।
पत्नीयुक्तो नृपो दानप्रभावात् स्वर्गमीयिवान् ॥११४॥

१ पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः घ।

नृभवं प्राप्य भूपालः पत्नीभिस्सप्तभिर्युतः ।
कृत्वा कर्मक्षयं सिद्धिसौख्यमापादयिष्यति ॥११५॥
एवं यो मनुजो दानधर्ममाराधयिष्यति ।
स एव सपदि श्रेयःसौख्यमापादयिष्यति ॥११६॥
धणसत्थवाहजम्मे जं घयदाणं कयं सुसाहूणं ।
तं कारणमुसभजिणो तेलुक्कपिआमहो जाओ ॥११७॥
करुणाइ दिन्नदाणं जम्मन्तरगहिअपुन्नकिरिआणं ।
तित्थयरचक्किरिद्धिं सम्पत्तो संतिनाहो वि ॥११८॥
सिरिसेअंसकुमारो निस्सेअससामीओ कह न होइ ।
फासुअदाणपवाहो पयाओ जेण भरहम्मि ॥११९॥
इत्यादि दानोपरि कथा ॥
पालयन्ति सदा शीलव्रतं ये भव्यमानवाः ।
लभन्ते तेऽचिराद्धेमवतीव शिवसंपदम् ॥१२०॥
आसील्लक्ष्मीपुरे धीरभूपतेर्न्यायशालिनः ।
प्रिया हेमवती शीलशालिनी लसदाशया ॥१२१॥ यतः-

आदौ धर्मधुरंधरा कुटुम्बनिचये क्षीणे च सा धारिणी,
विश्वासे च सखी हिते च भगिनी लज्जावशाच्च स्नुषा ।
व्याधौ शोकपरिव्रते च जननी शय्यास्थिते कामिनी,
त्रैलोक्येऽपि न विद्यते भुवि नृणां भार्यासमो बान्धवः ॥
तयोर्धर्मं जिनेन्द्रोक्तं कुर्वतोर्गुरुसेवया ।
जगाम समयो भूयान् सदा सौख्यनिमग्नयोः ॥१२३॥
वसन्तसमये हेमवतीपत्नीयुतो नृपः ।
उद्याने क्रीडितुं वर्यवृक्षेऽन्येद्युः समीयिवान् ॥१२४॥
कस्यचिदाननाद् हेमवत्या रूपश्रियं वराम् ।
श्रुत्वाऽमितगतिर्विद्याधरो हर्तुमुपागमत् ॥१२५॥ यतः-
"अक्खाणसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभवयं ।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जिप्पंति ॥१२६॥
क्रीडतः कानने भूमिपतेर्हेमवतीं प्रियाम् ।
हृत्वाऽमितगतिर्विद्याधरो वैताढ्यमीयिवान् ॥१२७॥

प्राहामितगतिर्हेमवत्यत्र रूप्यपर्वते ।
दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः पंचाशत्षष्टिसम्मिताः ॥१२८॥
नगर्यः सन्ति भूयिष्ठविद्याधरविराजिताः ।
विद्याधरा लसद्विद्याविदो रूपजितामराः ॥१२९॥ [युग्मम्]
पुन्नागाशोकमाकन्दचम्पकाद्यादिपादपान् ।
वापीकूपतटाकादिस्थानकानि विलोकय ॥१३०॥
रत्नवत्यां पुरि प्रौढरत्नपद्मावलीजुषि ।
विद्याभृत्सेवितो राज्यं कुर्वेऽहं सन्ततं सुखम् ॥१३१॥
इदं रत्नमयं सप्तभूमिकं मम मन्दिरम् ।
इदं बहिर्वनं सर्वऋतुपुष्पफलाढ्यकम् ॥१३२॥
प्रज्ञप्त्याद्याः सदा देव्यो ददत्योऽभीप्सितं सुखम् ।
तिष्ठन्ति सन्निधौ स्फाररूपलावण्यभासुराः ॥१३३॥
अङ्गीकृत्य च मां हेमवति ! त्वं स्वच्छमानसे ।
स्वेच्छयाऽनुभवोद्यानादिषु शर्म मया समम् ॥१३४॥

प्राह हेमवती मैवं वद विद्याधरेश्वर ! ।
परस्त्रीगमनाद् दुःखं लभते नरके नरः ॥१३५॥ यतः–
"स्वपतिं या परित्यज्य निस्त्रपोपपतिं भजेत् ।
तस्यां क्षणिकचित्तायां विस्रम्भो कोऽन्ययोषिति ॥१३६॥
भीरोराकुलचित्तस्य दुःस्थितस्य परस्त्रियाम् ।
रतिर्न युज्यते कर्तुमुपशून्यं पशोरिव ॥१३७॥
प्राणसन्देहजननं परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥१३८॥
सर्वस्वहरणं बन्धं शरीरावयवच्छिदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं लभते पारदारिकः ॥१३९॥
विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि परस्त्रीषु रिरंसया ।
कृत्वा कुलक्षयं प्राप नरकं दशकन्धरः" ॥१४०॥
विद्याधरो जगौ हेमवति ! त्वं मां द्रुतं वृणु ।
नो चेत् तव महानर्थो भविष्यति न संशयः ॥१४१॥ यतः–

["खणमित्तकज्जे जीवा परइत्थिगमणमिच्छंति ।
हरिचंदणवणसंडं दहंति ते छारकज्जंमि" ॥]
पाशं हेमवती शीलरक्षार्थं कण्ठकन्दले ।
चिक्षेप यावता तावत्पुष्पमालाऽभवच्च सा ॥१४२॥
शीलरक्षाकृते हेमवत्यैवं भूरिशः स्वयम् ।
प्रकारान् विदधे आत्महत्यै धर्मपरायणा ॥१४३॥
एवं तस्या महासत्या माहात्म्यं वीक्ष्य भूरिशः ।
पापं कर्तुमना विद्याधरो न विरराम सः ॥१४४॥
इतश्चक्रेश्वरी देवी मत्वा दुष्टाशयं च तम् ।
आगत्य हक्कयामास कर्कशैर्वचनैरिति ॥१४५॥
रे पापिष्ठ ! न किं वेत्सि सतीं हेमवतीमिमाम् ।
विरुद्धं वदसि त्वं चेत् तदाऽनर्थो भविष्यति ॥१४६॥
अस्याः शीलस्य माहात्म्यात् त्वं च भस्मीभविष्यसि ।
मन्यसे भगिनीं चेद्धि तदा ते कुशलं भवेत् ॥१४७॥

हेमवत्याः सदा शीलं भङ्क्तुं यत्त्वं दुराशयः ।
करोष्युपक्रमं तत्ते भयं नैवास्ति मानसे ॥१४८॥
हेमवत्याः पदौ नत्वा विद्याधरो जगाविदः ।
त्वं भगिन्यस्यतो मे हि सन्मार्गस्थापनादिह ॥१४९॥
दिव्यरत्नमये हारकुण्डले विलसद्द्युती ।
हेमवत्यै ददौ विद्याधरोऽमितगतिर्मुदा ॥१५०॥
विमानस्थां ततो हेमवतीं कृत्वा खगेश्वरः ।
एत्य लक्ष्मीपुरे धीरभूपाय प्रददौ तदा ॥१५१॥
उक्त्वा च शीलमाहात्म्यं हेमवत्या नृपाग्रतः ।
ददौ दिव्यमणिहारं कुण्डले विलसद्द्युती ॥१५२॥
[स्वस्थाने प्रययौ विद्याधरोऽमितगतिः पुनः]
शीलमाहात्म्यतस्तस्मिन् भवे हेमवती वशा ।
लात्वा दीक्षां तपस्तप्त्वा सद्यः प्राप शिवश्रियम् ॥१५३॥
सिरिउग्गसेणधूआ रायमई लहउ शीलवयरेहं ।
गिरिविवरगओ जीए रहनेमी ठाविओ मग्गे ॥१५४॥

पज्जलिओवि हु जलणो सीलपभावेण पाणिअं हवइ ।
सा जयउ जए सीआ जीसे पयडा जसपडाया ॥१५५॥
चालिणिजलेण चंपाइ जीइ उग्घाडिअं दुवारतिगं ।
कस्स न हरेइ चित्तं तीए चरिअं सुभद्दाए ॥१५६॥
हरिहरबंभपुरंदरमयभंजणपञ्चबाणबलदप्पो ।
लीलाइ जेण दलिओ स थूलभद्दो दिसउ भद्दम् ॥१५७॥
शश्वत्कुर्वंस्तपस्तीव्रं नमस्कारादिभावतः ।
स्वर्गमुक्तिश्रियौ तेजःपुञ्जवल्लभते जनः ॥१५८॥ तथाहि–
आसीच्चन्द्रपुरे चन्द्रसेनाह्वमेदिनीपतेः ।
चन्द्रावतीप्रियाजाततेजःपुञ्जाभिधोऽङ्गजः ॥१५९॥
स्तन्यपानादिना शश्वद् धात्रीभिः पञ्चभिः सुतः ।
पाल्यमानो ववृधे च सितपक्षशशाङ्कवत् ॥१६०॥
भूभुजा पण्डितोपान्ते मुक्तः पुत्रः सदुत्सवम् ।
पूर्णेन्दुरिव जग्राह क्रमेण सकलाः कलाः ॥१६१॥ यतः–

"जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि ।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः" ॥१६२॥
मातापित्रोः पदाम्भोजं सेवमानः सुभक्तितः ।
रञ्जयामास चेतांसि सर्वेषां विदुषां पुनः ॥१६३॥ यतः–
"प्रीणाति यः सुचरितैः पितरं स पुत्रो,
यद् भर्त्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य–
देतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते" ॥१६४॥
जितशत्रुमहीशस्य तनयां रूपसुन्दरीम् ।
विस्तरान्नृपतिस्तेजःपुञ्जं च पर्यणीणयत् ॥१६५॥
वितीर्य सूनवे राज्यं कृत्वा चाष्टाह्निकामहः ।
सप्रियोऽनशनं लात्वा चन्द्रसेनो दिवं ययौ ॥१६६॥ यतः–
"तव निअमेण य मुक्खो दाणेण य हुंति उत्तमा भोगा ।
देवच्चणेण रज्जं अणसणमरणेण इंदत्तं" ॥१६७॥

काले सुपत्तदाणं सम्मत्त विसुद्धबोहिलाभं च।
अंते समाहिमरणं अभव्वजीवा न पावंति ॥१६८॥
ततः पूर्वार्जितश्रेयःप्रभावाद् विषयान् बहून्।
साधयन् कारयामास रिपून् सेवां निजां नृपः ॥१६९॥ यतः–
आरोग्यभाग्याभ्युदयप्रभुत्वं सत्त्वं शरीरे च जने महत्त्वम्।
तत्त्वं च चित्ते सदने च संपत् सम्पद्यते पुण्यवशेन पुंसाम्॥
आगतं बहिरुद्याने धर्मघोषं गुरूत्तमम्।
श्रुत्वा भूपो ययौ धर्मं श्रोतुकामो लसन्मनाः ॥१७१॥
तिस्रः प्रदिक्षणा दत्त्वा वन्दित्वा विधिवद् गुरुम्।
तेजःपुञ्जमहीपालो धर्मं श्रोतुमुपाविशत् ॥१७२॥ तद्यथा–
"अपि लभ्यते सुराज्यं लभ्यन्ते पुरवराणि रम्याणि।
नहि लभ्यते विशुद्धः सर्वज्ञोक्तो महाधर्मः ॥१७३॥
[भवकोटीदुःप्राप्यमवाप्यनृभवादिसकलसामग्रीम्।
भवजलधियानपात्रे धर्मे यत्नः सदा कार्यः]

माणुस्सखित्तजाइकुलरूवारुग्गमाउअं बुद्धी।
सवणग्गहसद्धा संजमो अ लोगम्मि दुलहाइं ॥१७४॥
आलस्समोहवन्ना थंभा कोहा पमायकिवणत्ता।
भयसोगा अन्नाणा विक्खेवकोउहला रमणा ॥१७५॥ इत्यादि
व्याख्यान्ते नृपतिः प्राहः स्वामिन्! पूर्वभवे मया।
किं कृतं सुकृतं येनेदृक्षं राज्यमभून्मम ॥१७६॥
गुरुः प्राह महाभाग! यत्कृतं सुकृतं त्वया।
तत्सर्वं श्रूयतां सावधानीभूयाधुना नृप! ॥१७७॥ तथाहि–
श्रीपुरेऽजनि दारिद्र्याभिभूतः कमलो वणिग्।
कमला गृहिणी तस्याऽभवत् तिस्रः सुताः क्रमात् ॥१७८॥
उद्वाहचिन्तया तासां धनाभावादभूद् भृशम्।
दुःखितः कमलः कुर्वन् कर्म परनिकेतने ॥१७९॥ यतः–
[यथा लक्ष्म्या विदग्धत्वं विभ्रमं यौवनश्रिया।
प्रेष्यभावं तथा जीवः शिक्षते दुरवस्थया॥

कुग्रामवासः कुनरेन्द्रसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
कन्याबहुत्वं च दरिद्रता च षड् जीवलोके नरका भवन्ति॥]
"जम्मंतीए सोगो वड्ढंतीए अ वड्ढए चिंता।
परिणीआए दंडो जुवइपिआ दुक्खिओ निच्चम् ॥१८०॥
निअघरसोसा परगेहमण्डणी कलिकलङ्ककुलभवणं।
जेहिं न जाया धूआ ते सुहिआ जीवलोगम्मि" ॥१८१॥
कमलेन सुतास्तिस्रः कष्टेन परिणायिताः।
जग्मेऽन्यदा गुरो पार्श्वे धर्मं श्रोतुं सुचेतसा ॥१८२॥
अत्र गुरूपदेशः—
"यद् भक्तिः सर्वज्ञे यद्यत्नस्तत्प्रणीतसिद्धान्ते।
यत्पूजनं यतीनां फलमेतज्जीवितव्यस्य ॥१८३॥
दानं सुपात्रे विशदं च शीलं तपो विचित्रं शुभभावना च।
भवार्णवोत्तारणसत्तरण्डं धर्मं चतुर्धा मुनयो वदन्ति ॥१८४॥
कमलोऽवग् विना द्रव्यं दानं च दीयते कथम्।
गुरुः प्राह विना लक्ष्मीं तपश्च क्रियते सदा ॥१८५॥
कमलो नैगमः प्राह किं किंच क्रियते तपः।
गुरुणोक्तं तपांसि स्युः सिद्धान्ते बहुभेदतः ॥१८६॥
"पोरिसिचउत्थछट्टं काउं कम्मं खवन्ति जं मुणिणो।
तं नो नारयजीवा वाससयसहस्सलक्खेहिं ॥१८७॥
जे निच्चमप्पमत्ता गंठिं बंधंति गंठिसहिअंमि।
सग्गापवग्गसुक्खं तेहिं निबद्धं सगंठिंमि ॥१८८॥
तपः सकललक्ष्मीणां नियन्त्रणमशृङ्खलम्।
दुरितप्रेतभूतानां रक्षामन्त्रो निरक्षरः" ॥१८९॥
श्रुत्वेत्कमलः प्राहैकान्तरः क्षपणो मया।
कर्तव्यं गंठिसहितं प्रत्याख्यानं च भावतः ॥१९०॥
यावज्जीवं तपः कुर्वन् गुरूक्तं विधिवत्सदा।
मृत्वाऽभूत्प्रथमे स्वर्गे भासुरः कमलः सुरः ॥१९१॥ यतः—
"यद् दूरं यद् दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्" ॥१९२॥

पूरितायुः सुरः स्वर्गात् च्युत्वा चन्द्रपुरेशितुः ।
चन्द्रसेनस्य पुत्रोऽभूत् त्वं चश्वत्स्वप्नसूचितः ॥१९३॥
पूर्वं कृतः तपःकल्पवृक्षो राज्यश्रियाऽनया ।
फलितस्तव राजेन्द्र ! सद्यः सर्वेष्टदायकः ॥१९४॥
गजा दशशतं जात्याः पञ्चलक्षतुरङ्गमाः ।
तावन्तः स्यन्दनाः कोटी पत्तयो बलशालिनः ॥१९५॥
कोटाकोटी सुवर्णस्य रत्नानि च दशायुतम् ।
लक्षमूल्यानि मुक्तानां श्रियः पारं न पार्यते ॥१९६॥ यतः—
"सर्वाः संपत्तयः सत्यं जायन्ते तस्य जन्मिनः ।
प्राग् जन्मोपार्जितं यस्य पुण्यद्रविणमूर्जितम्" ॥१९७॥
श्रुत्वैतद् भूपतिः प्राह स्वामिन्नद्यदिनान्मया ।
कर्तव्यं पूर्वभववत् तपो नित्यं स्वभावतः ॥१९८॥
कुर्वन्तं नृपतिं तीव्रं तपो वीक्ष्याखिला जनाः ।
तपांसि कुर्वते शश्वद् विशेषाद् भक्तिपूर्वकम् ॥१९९॥ यतः—

[राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ॥]
श्रीसुन्दराय पुत्राय दत्त्वा राज्यं सदुत्सवम् ।
क्षेत्रेषु सप्तसु स्वीया श्रीरुप्ता भूभुजाऽऽदरात् ॥२००॥
लात्वा दीक्षां तपस्तीव्रं कृत्वा कर्मक्षयं क्षणात् ।
लब्धकेवलचित् तेजःपुञ्जर्षिः प्राप निर्वृतिम् ॥२०१॥ यतः—
"छट्ठं छट्ठेण तवं कुणमाणो पढमगणहरो भयवं ।
अक्खीणमहाणसीओ सिरिगोअमसामीओ जाओ ॥२०२॥
सुणिऊण तवं सुन्दरिकुमरीए अंबिलाणि अणवरयं ।
सट्ठिं वाससहस्सा भण कस्स न कंपए हिअयं ॥२०३॥
इत्यादि तपसि कथा ॥
विशुद्धां भावनां भव्या भावयन्तः स्वचेतसि ।
शिवभूप इवाह्लाय लभन्ते पदमव्ययम् ॥२०४॥
श्रीवर्द्धनपुरे शूरभूपस्य न्यायशालिनः ।
अभूत् पद्माभवः पुत्रः शिवाह्वो वरलक्षणः ॥२०५॥

पाठितः पण्डितोपान्ते पुत्रः पित्रा तथा शिवः ।
धर्मकर्मकलाः कल्या यथा जज्ञावशेषतः ॥२०६॥ यतः-
"जायम्मि जीवलोए दो चेव नरेण सिक्खिअव्वाइं ।
कम्मेण जेण जीवइ जेण मुओ सुग्गइं जाइ" ॥२०७॥

श्रीपुरे धीरभूपस्य तनयां श्रीमतीमथ ।
शूरेण भूभुजा पुत्रः सन्महं परिणायितः ॥२०८॥
प्रदाय सूनवे राज्यं शूरो धर्मधुरन्धरः ।
आराधनां विधायान्ते सप्रियः स्वर्गमीयिवान् ॥२०९॥ यतः-
धनदो धनमिच्छूनां कामदः काममिच्छताम् ।
धर्म एवापवर्गस्य पारम्पर्येण साधकः ॥२१०॥

प्रेतकार्यं पितुः कृत्वा मुक्त्वा शोकं शिवो नृपः ।
न्यायमार्गेण पृथिवीं पालयामास सादरम् ॥२११॥ यतः-
"दुर्बलानामनाथानां बालवृद्धतपस्विनाम् ।
अन्यायैः परिभूतानां सर्वेषां पार्थिवो गतिः ॥२१२॥

इतः सभास्थमुर्वीशं नत्वा कश्चिन्नरो जगौ ।
राजन् हीरपुरं धीरो वैरी हत्वाऽधुना ययौ ॥२१३॥
ततः सन्नह्य भूपालो जेतुं तं वैरिणं रणे ।
अचालीद् भूरिहस्त्यश्वपदातिबलसंयुतः ॥२१४॥

तुरङ्गमखुरोत्खातरजोव्याप्तनभोङ्गणः ।
शोषयन् सलिलं नद्या ययौ वैरिपुरान्तिके ॥२१५॥
दूतास्यादागतं भूपं शिवं मत्वा रिपुः क्षणात् ।
सन्नह्य निर्ययौ पुर्या बहिः कर्तुं रणं क्रुधा ॥२१६॥
द्वयोः कटकयोर्युद्धं कुर्वतोर्वैरिभूभुजा ।
यावच्छिवचमूर्भग्नाऽभिमुखा विहिता रणे ॥२१७॥

यावच्छिवो बलं स्वीयं भग्नं दृष्ट्वा स्वयं क्षणात् ।
उत्थाय विग्रहं कर्तुं प्रवृत्तोऽरुणलोचनः ॥२१८॥
ततः शिवो नृपो वैरिबलं वार्द्धिमिव क्षणात् ।
विलोड्य पक्षिवद् धीरं बबन्धाशु रणे रिपुम् ॥२१९॥

धीरस्य विद्विषः सर्वे सेवकाश्च दिशोदिशम् ।
नंष्ट्वा ययुस्तमःपुञ्जा इव सूर्योदयेऽभितः ॥२२०॥ यतः-
"तावच्चन्द्रबलं ततो ग्रहबलं ताराबलं भूबलम् ,
तावत्सिध्यति वाञ्छितार्थमखिलं तावज्जनः सज्जनः ।
मुद्रामण्डलमन्त्रतन्त्रमहिमा तावत्कृतं पौरुषं,
यावत्पुण्यमिदं महद् विजयते पुण्यक्षये क्षीयते ॥२२१॥
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगा शुष्कं सरः सारसाः,
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः ।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं सेवकाः,
सर्वे कार्यवशाज्जनो हि रमते कः कस्य को वल्लभः ॥२२२॥
मत्वेत्यरिः शिवं क्ष्मापं नत्वा भक्त्या जगावदः ।
राजन्निदं पुरं लाहि जातोऽस्मि तव सेवकः ॥२२३॥
मम श्रीसुन्दरीं पुत्रीं त्वमङ्गीकुरु साम्प्रतम् ।
मां मुञ्च बन्धनात्सद्यः प्रसद्य शिवभूपते ! ॥२२४॥

आकर्ण्यैतद् वचो भक्तिगर्भितं शिवभूपतिः ।
प्रसन्नीभूय धीरारिं मुमोच बन्धनात् तदा ॥२२५॥
"उत्तमानां प्रणामान्तः कोपो भवति निश्चितम् ।
नीचानां न प्रणामेऽपि कोपः शाम्यति कर्हिचित्"॥२२६॥
दत्तां श्रीसुन्दरीं धीरभूपेन शिवभूपतिः ।
स्वीचकार स्यात्पाणिपीडनाल्लसदुत्सवम् ॥२२७॥
दत्त्वा राज्यं च धीराय श्रीसुन्दर्या युतः शिवः ।
सुमहं स्वपुरे सौख्यप्रयाणैराययौ शनैः ॥२२८॥
श्रीसुन्दरी कृता राज्ञा पट्टराज्ञी लसद्गुणा ।
धर्मं चकार सर्वज्ञप्रोक्तं जीवदयामयम् ॥२२९॥
"आसन्ने परमपए पावेअव्वंमि सयलकल्लाणे ।
जीवो जिणिंदभणिअं पडिवज्जइ भावओ धम्मं ॥२३०॥
[सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्धते ।
क्षमया च स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद्विनश्यति ॥]

कुसङ्गाच्छिवभूपालो मनाग् धर्मं व्यधान्नहि ।
सेवते स्म सदा सप्त व्यसनानि च दुर्मतिः ॥२३१॥
शुभेऽह्नि श्रीमती पुत्रं प्रासूत सुन्दराकृतिम् ।
कृत्वा जन्मोत्सवं सूनोर्वीरेत्याह्वां नृपो ददौ ॥२३२॥
लाल्यमानोऽनिशं पञ्चधात्रीभिः स्तन्यपानतः ।
शुक्लपक्षे विधुरिव वर्द्धते स्म लसत्तनुः ॥२३३॥
धर्मध्यानपराऽन्येद्युः श्रीमती शीलशालिनी ।
मृत्वा प्रान्तेऽभवत्स्वर्गे देवी भासुरदीधितिः ॥२३४॥
अवधिज्ञानतो मत्वा स्वरूपं पूर्वसंसृतेः ।
बोधयितुं शिवं कान्तं समागात्श्रीमती सुरी ॥२३५॥ यतः–
"पञ्चसु जिणकल्लाणेसु महरिसितवाणुभावाओ ।
जम्मंतरनेहेण य आगच्छन्ति सुरा इहयं" ॥२३६॥
आखेटकपरद्रोहमद्यपानादितत्परम् ।
लोकयुक्तं शिवं भूपं ददर्श श्रीमती सुरी ॥२३७॥ यतः–
"भूपे धर्मं वितन्वाने प्रजा धर्मं वितन्वते ।
भूपे पापं वितन्वाने पापं कुर्वन्ति मानवाः" ॥२३८॥
तादृशं पतिमालोक्य दध्यावेवं सुरी हृदि ।
कथं मया पतिः पापान्निवार्यो भवति द्रुतम् ॥२३९॥ यतः–
"सामर्थ्ये मति यो मित्रं न निषेधति पापतः ।
तस्यात्मा तस्य पापेन लिप्यते वज्रलेपवत्" ॥२४०॥
मत्वेति श्रीमती देवी चाण्डालीरूपधारिणी ।
मलक्लिन्नाम्बरा हस्ते नृकपालं वितन्वती ॥२४१॥
पिबन्ती मदिरां मांसं भक्षयन्ती कुरूपभृत् ।
क्षिपन्त्यम्बुच्छटां राजमार्गेऽचालीच्छनैः शनैः ॥२४२॥
तादृशीं वनितां दृष्ट्वा सभास्थोऽवग् महीपतिः ।
मन्त्रिन्नियं छटां मार्गे चाण्डाली क्षिपते कथम् ? ॥२४३॥
भूपादेशेन मन्त्रीशो गत्वा चाण्डालिकान्तिके ।
पप्रच्छेति तदा वारिच्छटाक्षेपणकारणम् ॥२४४॥

हस्ते नरकपालं ते मदिरामांसभक्षणे ।
भूपः पृच्छति चाण्डालि ! मार्गे किं क्षिप्यते छटा ॥२४५॥
सभायामेत्य चाण्डाली शृण्वाने मेदिनीपतौ ।
प्रोवाचेति तदा चारुतरगीर्वाणभाषया ॥२४६॥

कूटसाक्षी मृषाभाषी कृतघ्नो दीर्घरोषणः ।
कदाचिच्चलितो मार्गे तेनेयं क्षिप्यते छटा ॥२४७॥
आखेटकपरद्रोहमद्यपानादितत्परः ।
कदाचिच्चलितो मार्गे तेनेयं क्षिप्यते छटा ॥२४८॥
मन्त्री प्रोवाच चाण्डालि ! मैवं वदतु साम्प्रतम् ।
चाण्डाला नहि शुध्यन्ति वारिणा स्नपिता अपि ॥२४९॥

चाण्डाली प्राह—

“कूटसाक्षी मृषाभाषी कृतघ्नो दीर्घरोषणः ।
मद्यपापर्द्धिकृन्नीरैर्न शुध्यति कदाचन ॥२५०॥

यतः पुराणेऽप्युक्तम्—

“चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि” ॥२५१॥
एतत्सर्वं महीशेन श्रुत्वा मन्त्रिमुखात्तदा ।
आकारिता नृपोपान्ते क्षिपन्ती आययौ छटाम् ॥२५२॥

सभाया उपरि क्षिप्त्वा छटां तस्थौ च यावता ।
तावद् भृत्यान् क्रुधा हन्तुमादिदेश च तां नृपः ॥२५३॥
मार्यमाणाऽपि चाण्डाली छिन्ना भिन्ना च नो मनाग् ।
राजा दध्याविदं नारी व्यन्तरी किन्नरी सुरी ॥२५४॥
मानवी चेत्तदा मार्यमाणैवं म्रियते क्षणात् ।
तेनेयं किन्नरी देवी विद्यते नात्र संशयः ॥२५५॥

देवतानां मया नूनं चक्रे आशातनाऽधुना ।
एतस्मात्पापनिचयात् मुक्ष्ये(मोक्ष्ये)हमधमः कथम् ॥२५६॥
चाण्डाली भूपतेर्धर्मानुगं वीक्ष्याशु मानसम् ।
चञ्चदाभरणा देवीभूयास्थान्नृपतेः पुरः ॥२५७॥

भूपः प्रोवाच काऽसि त्वं किमर्थमागता कुतः ।
देवी प्राहात्मनः सर्वं स्वरूपं पूर्वसंसृतेः ॥२५८॥
चाण्डालीरूपनिर्माणादिकमेतन्मया कृतम् ।
भवतः प्रतिबोधाय त्वं जानीहीति भूपते! ॥२५९॥
राजाऽवग् देवि! पापर्द्धिर्मया मौढ्यात् कृता घना।
तेन मे नरके पातो भविष्यत्यसुखप्रदः ॥२६०॥
धर्मं जीवदयारूपं कृत्वा स्वर्गादिसौख्यदम् ।
त्वमभूदे(भूर्दे)वता चारुसौख्यमनन्ततिभाग् दिवि ॥२६१॥
श्रुत्वैतद् भूपतिः सद्यः तत्याज व्यसनं क्षणात् ।
ततो देवी जगौ भूप! पाल्या जीवदया दृढम् ॥२६२॥ यतः–
"आसन्ने परमपए पावेअव्वंमि सयलकल्लाणे ।
जीवो जिणिंदभणियं पडिवज्जइ भावओ धम्मं ॥२६३॥
[जं अप्पह न सुहाइ तं पुण परह न चिंतीइ ।
धम्मह एउं सार वलि वलि काहउं पूछिइ" ॥]

स्थापयित्वा नृपं धर्मवर्त्मनि श्रीमती तदा ।
भूपनन्दनयो रत्नद्वयं दत्त्वा ययौ दिवि ॥२६४॥
ततः प्रभृति भूपालस्त्यक्तव्यसनसप्तकः ।
शुभ्ररत्नमयं जैनं सद्म मध्येपुरं व्यधात् ॥२६५॥
प्रासादे शान्तिनाथस्य प्रतिमाया महीपतिः ।
प्रतिष्ठां कारयामासाकार्य सूरीन् सदुत्सवम् ॥२६६॥ यतः–
"धर्मादभ्यागतां लक्ष्मीं धर्म एव नियोजयेत् ।
यतो धर्मस्य लक्ष्म्याश्च दत्ते वृद्धिं द्वयोरपि ॥२६७॥
रम्यं येन जिनालयं निजभुजोपात्तेन कारापितं,
मोक्षार्थं स्वधनेन शुद्धमनसा पुंसा सदाचारिणा ।
बद्धं तेन नरामरेन्द्रमहितं तीर्थेश्वराणां पदं,
प्राप्तं जन्मफलं पुनर्जिनमतं गोत्रं समुद्द्योतितम् " ॥२६८॥
प्रासादः प्रतिमा यात्रा प्रतिष्ठा च प्रभावना ।
अमायुद्घोषणादीनि महापुण्यानि देहिनाम् ॥२६९॥

१ नो पूर्वं कृतं पुण्यं मया मनाक् । तेनाभूवमहं हीनऋद्धिस्त्वत्तोऽधुना भुवि ॥ ग । २ कृताऽशुभा घ । ३ कारयामास भूपतिः क ।

अन्येद्युः शान्तिनाथस्य कृत्वाऽर्चां कुसुमैर्वरैः ।
ढोकयामास नैवेद्यं भूमिपतिर्मनोहरम् ॥२७०॥
उदारैः स्तवनैर्भूमीपतिः शान्तिजिनेशितुः ।
गुणौघान् स्तोतुमारेभे भक्तिभावितमानसः ॥ अत्र स्तुतिः ॥
एकाग्याच्छिवभूपस्य भावयतश्च भावनाम् ।
बभूव केवलं ज्ञानं पुरः शान्तिजिनेशितुः ॥२७२॥ यतः–
"प्रणिहन्ति क्षणार्द्धेन साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः" ॥२७३॥
देवतादत्तलिङ्गेन शिवेन ज्ञानिना तदा ।
प्रबोध्य पृथिवीं मुक्तिपुर्यां कर्मक्षयाद् गतम् ॥२७४॥ यतः–
"हत्थिंपि समारूढा रिद्धिं दट्ठूण उसभसामिस्स ।
तक्खणसुहझाणेण मरुदेवी सामिणी सिद्धा" ॥२७५॥
एवं ये भावनां भव्या भावयन्ति सदादरात् ।
लभन्ते केवलज्ञानं ते कृत्वा कर्मणां क्षयम् ॥२७६॥

इति भावनोपरि शिवकथा ॥

आकर्ण्यैतन्नृपश्चित्तचमत्कारकरं जगौ ।
अहो श्रीस्त्यागयोग्येयं भोगयोग्या सतां नहि ॥२७७॥ यतः–
"दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो,
गृह्णन्ति छलमाकलय्य हुतभुग् भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयति क्षितौ विनिहतं यक्षा हरन्ते हठात्,
दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बह्वधीनं धनम् ॥२७८॥
आरोहन्ति सुखासनान्यपटवो नागान् हयान् तज्जुष-
स्ताम्बूलाद्युपभुञ्जते नटविटा खादन्ति हस्त्यादयः ।
प्रासादे चटकादयो निवसन्त्येते न पात्रं स्तुतेः ।
स स्तुत्यो भुवने प्रयच्छति कृती लोकाय यः कामितम्" ॥
ध्यात्वेति विक्रमादित्यः श्रुत्वा दानफलं तदा ।
स्वर्णरूप्यमणीदानैरनृणीं मेदिनीं व्यधात् ॥२८०॥
संवत्सरपरावर्त्तं कृत्वा वीरजिनेशितुः ।
निजं संवत्सरं चक्रे भूरिदानेन विक्रमः ॥२८१॥

परोपकारमालोक्य विक्रमार्कनरेशितुः ।
वासवोऽपि सभासीनः प्रोवाचेति सुराग्रतः ॥२८२॥
"प्रायः सत्यपि वैभवे सुरजनः स्वार्थी न दत्ते धनं,
तीर्थान्नोद्धरति क्वचिन्न हरति व्याधीन्न हन्त्यापदम् ।
अप्यात्मंभरिभिर्जनैर्युगलिभिर्धन्यास्तु केचिन्नराः,
सर्वाङ्गीणपरोपकारयशसा ये द्योतयन्ते जगत्" २८३॥
अनृणीं वसुधां कृत्वा गतेषु मन्त्रिषु क्रमात् ।
प्राह श्रीविक्रमादित्यो भट्टमात्रं प्रति स्फुटम् ॥२८४॥
अनृणी विहिता क्षोणी बहुलक्ष्मीप्रदानतः ।
किमतः क्रियते मन्त्रिन् ! साम्प्रतं[1] वद साम्प्रतम् ॥२८५॥
भट्टमात्रो जगौ पूर्वं श्रीरामादिमहीभुजः ।
भूरिशो वसुधां जित्वा कीर्तिस्तम्भं व्यधुः पृथुम् ॥२८६॥
अतश्च क्रियते कीर्तिस्तम्भो भूरिधनव्ययात् ।
राजा ततः समाकार्य सूत्रधारान् जगावदः ॥२८७॥
गृह्णन्तु द्रविणं भूरि कीर्तिस्तम्भो विधीयताम् ।
भूपदत्तं धनं लात्वा तं कर्तुं ते प्रवर्तिताः ॥२८८॥
इतो भूपो निशीथिन्यां नष्टचर्यां पुरि भ्रमन् ।
कृष्णविप्रगृहोपान्ते ययौ यावद्गृहस्तदा ॥२८९॥
तावत्तत्रागतौ युद्धं कुर्वाणौ शण्ड-सैरिभौ ।
पपात मङ्कटे राजा तयोर्दैवनियोगतः ॥२९०॥
विनिद्रो वाडवोऽकस्मादुत्थाय गगनाङ्गणे ।
दृष्ट्वा दुष्टग्रहयुगमेकत्रस्थं जगावदः ॥२९१॥
प्रिये ! उत्तिष्ठ दीपं त्वं कुर्वाशु कुरुषे बलिम् ।
मङ्कटेऽद्य महीशस्य पतितस्य प्रशान्तये ॥२९२॥
प्रिया प्राह सुताः सप्त वरयोग्याश्च सन्ति नः ।
गृहे त्वद्यतनं[2] धान्यं विद्यते न प्रियानघ ॥२९३॥
अन्नं नास्ति पयो नास्ति नास्ति मुद्रा युगन्धरी ।
धान्यान्तर्लवणं नास्ति तन्नास्ति यच्च भुज्यते ॥२९४॥

---

१ सत्कार्यं घ । २-तना तोणी क ।

नृपतिः कारयन् कीर्तिस्तम्भं न हीक्षते प्रजाः ।
दुःखिता विभवान्नाद्य[2]भावात् सन्त्यखिला ननु ॥२९५॥
प्रायो निःस्वो जगन्निःस्वं धनी धनयुतं स्फुटम् ।
सुखी च सुखिनं लोकं मन्यते मनुजः किल ॥२९६॥
द्विजः प्राह प्रिये ! भूपा आत्मीया हि भवन्ति न ।
तथापि जनता इष्टमिच्छन्ति मेदिनीपतेः ॥२९७॥
स्वयमुत्थाय भूदेवो नृपस्य शान्तिहेतवे ।
चकार शान्तिकं लात्वा चारुपुष्पादिकं बलिम् ॥२९८॥
लुलायवृषभौ युद्धं विमुच्य जग्मतुः पृथग् ।
एतद् दृष्ट्वा नृपश्चिह्नं व्यधात् विप्रस्य सद्मनि ॥२९९॥
गत्वा सौधं नृपः सुप्त्वा प्रातरुत्थाय संसदि ।
उपविश्य द्विजं ह्वातुं प्रेषयामास सेवकान् ॥३००॥
नृपस्याकारणं श्रुत्वा ब्राह्मणी प्राह भोः पते ! ।
वरा शान्तिः कृता रात्रौ ययेदक्षाऽऽपदागमत् ॥३०१॥

न ज्ञायते महीशः किं करिष्यत्यात्रयोश्छलात् ।
न भवन्ति महीपाला आत्मीयाः पोषिता अपि ॥३०२॥
श्रुत्वेतद् भूपतिर्धीरां दत्त्वाऽऽकार्यं द्विजं तदा ।
पप्रच्छ मम किं विघ्नं भवद् ज्ञातं त्वया ह्यदः ॥३०३॥
द्विजः प्राह मया ज्ञातं विघ्नं लग्नबलात्तव ।
भूपोऽवक् किं स्वयं शान्तिः कृता मम द्विज ! त्वया ॥३०४॥
द्विजः प्राहोष्यते छत्रछायायां यस्य भूपतेः ।
वाञ्छयते विजयं तस्य लोकैः सन्ततमादरात् ॥३०५॥
नैशं वृत्तान्तमुर्वीशः प्रकाश्य निजमञ्जसा ।
ब्राह्मणं प्रीणयामास भूरिलक्ष्मीप्रदानतः ॥३०६॥
द्विजाय भूपतिः सप्तकन्योद्वाहकृते तदा ।
दापयामास द्रव्याणां सप्तलक्षं च मन्त्रिभिः ॥३०७॥
एवं द्विजं सुखीकृत्य लोकाँश्च भूरिदानतः ।
कीर्तिस्तम्भं पुरे तत्र कारयामास रैव्ययात् ॥३०८॥

१ कारयन् नृपतिः कीर्तिस्तम्भं न नेक्षते क । २ अन्यादत्र पुरान्तरे क ।
